प्रकाशक—

काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

५७, कृष्णपुरा, इन्दौर (सी० आई०)

मूल्य
आठ आना

पहली बार १,१००

सितम्बर
उन्नीस सौ बत्तीस

मुद्रक—

जीतमल लूणिया

सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर।

देश के वत्सल माता पिता और छात्र-प्रेमी शिक्षकों

के

प्रतीक-स्वरूप

वात्सल्य-मूर्ति पिताजी और स्नेहमयी माताजी

के चरणों में—

विनीत बालक-

काशीनाथ

विषय-सूची

क्या है ?

आपके हाथ में यह क्या है ? यह एक ऐसी पुस्तक है, जो आपके जीवन की धारा को बदल सकती है; आपके पुराने और सड़े-गले विचारों को अपने पावन प्रवाह से धोकर बहा सकती है; आपके दिल में पश्चात्ताप की आग सुलगा सकती है; आपको सच्चा शिक्षक, प्रेमी पिता और स्नेहमयी जननी बना सकती है; आपके दिल में बच्चों के लिए प्रेम, सहानुभूति, सम्मान और सेवा के भाव भर सकती है, आपके शिक्षा-सम्बन्धी विचारों में क्रान्ति पैदा कर सकती है, आपके अन्दर शिक्षा-शास्त्र का धुरन्धर विद्वान् और वैज्ञानिक बनने की प्रेरणा जगा सकती है, आपके जीवन को सुखद, सुन्दर, सत्य और शिव बना सकती है, और आपके पारिवारिक जीवन में निर्मल आनन्द और स्नेह की सरिता बहा सकती है। और, यह सच मानिये कि इसमें ज़रा भी अतिशयोक्ति नहीं है।

इस पुस्तक का छोटा-सा इतिहास है। वह भी सुन लीजिए। मैं विद्यार्थी था, पर ग़रीबी ने मुझे उसी अवस्था में शिक्षक भी बनाया। मैं विद्यार्थी भी था और शिक्षक भी था। आज उस बात को सात आठ वर्ष बीत चुके हैं। इस बीच, मैंने बराबर किसी न किसी रूप में बालकों की सेवा की है। उनके साथ रहकर मैंने अलौकिक सुख लूटा है। उनके सुख से सुखी और दुःख से दुखी हुआ हूँ। मैंने देखा कि अपने अज्ञान के कारण, और आत्मसंयम के अभाव के कारण हम बालकों पर घोर अत्याचार करते हैं। उनके सुख, उल्लास और कुतूहल से भरे संसार को हम बहुत ही कडुआ और कष्टकर बना देते हैं। बड़ा करुण हो जाता है, बच्चों का वह जीवन ! मुझे अपना बचपन याद आता। मन में एक अभिलाषा-सी जागी—बच्चों के खिलते हुए बचपन को सुखी, स्वस्थ और सुन्दर बनाने में सहायक क्यों न बनूँ ?

सन् १९२८ में मैं अजमेर पहुँचा। 'त्यागभूमि' के कार्यालय में मुझे शिक्षा सम्बन्धी नया साहित्य पढ़ने को मिला। मैं उस ओर आकर्षित हुआ। मुझे उसमें अपने मन की बात मिली। भावनगर की 'दक्षिणामूर्ति' संस्था का यह साहित्य था। ढाई साल तक मैं साबरमती आश्रम में रहा। ढाई साल तक मैं बराबर इस साहित्य को पढ़ता रहा। ढाई साल तक मैंने आश्रम के भाई-बहनों को हिन्दी पढाई। बालक-बालिकाओं को पढ़ाया। पिछले साल मैं जैन गुरुकुल का प्रधानाध्यापक बनकर छोटी सादड़ी (मेवाड) पहुँचा। लगभग साल भर वहाँ रहकर मैंने गुरुकुल के छात्रों की सेवा की। वहाँ एक ओर मुझे शिक्षा-जगत् में फैली हुई धाँधली, धौंस, पाप, अत्याचार, दम्भ, दासता, कायरता, अज्ञान, दुराग्रह आदि के दर्शन हुए। दूसरी ओर मैंने छात्रों में सरलता, स्नेह, सेवा, स्वातन्त्र्य प्रेम, त्याग, भक्ति, प्रीति, उल्लास, जीवन, जागृति, जोश, जिज्ञासा, आदि के परम मनोहर दर्शन किये। मैं कृतकृत्य हो गया। वहीं मैंने सोचा कि अगर मैं अपनी सारी शक्ति देश के बालकों को, और देश के बाल-जीवन को सुखी, स्वस्थ और समुन्नत बनाने में खर्च कर सकूँ, तो क्या ही अच्छा हो? मैंने 'शुभस्यशीघ्रम्' के अनुसार तत्काल श्रीगणेश कर दिया। यह पुस्तक इसी आरम्भ का एक फल है। मुझे विश्वास है कि अनुवाद होते हुए भी पुस्तक हिन्दी-संसार की उपयोगी सेवा कर सकेगी, और हिन्दी भाषी भाई-बहनो के सामने बाल-जीवन को निरखने का एक नया ही दृष्टिकोण उपस्थित कर सकेगी।

पुस्तक का सम्पादन मैंने प्राथमिक शाला मे पढ़नेवाले बालक-बालिकाओं और उनके शिक्षकों को ध्यान में रखकर ही किया है। पुस्तक जितनी शिक्षकों के लिए उपयोगी है, उतनी ही शिक्षिकाओं के लिए भी है, और माता-पिताओं के लिए भी। शिक्षक-मात्र इससे लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक में शुद्ध शिक्षा का ही विचार किया गया है, और राष्ट्रीयता को बराबर ध्यान में रक्खा है। क्योंकि मैं मानता हूँ कि जब

तक हम लोग शुद्ध शास्त्रीय ज्ञान से युक्त होकर अपने बालक-बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध न करेंगे, और जबतक समाज, सम्प्रदाय, जाति-पाँति आदि का भेद मिटाकर उनके सामने जीवन की शुद्ध और विशाल दृष्टि न रक्खेंगे, तबतक हमें वह चीज़ कभी नहीं मिलेगी, जिसकी हम सब प्यासे पपीहे की तरह प्रतीक्षा कर रहे हैं। वह चीज स्वराज्य है—जीवन-व्यापी स्वराज्य। आज सारा देश उसीकी साधना कर रहा है, पर यह साधना लूली है, अपूर्ण है, और अपूर्ण रहेगी, जबतक देश सारे जीवन को स्पर्श करनेवाले शिक्षा-शास्त्र को भुलाये रहेगा, उसकी उपेक्षा करता रहेगा।

'दक्षिणामूर्ति' संस्था गुजरात में नवीन शिक्षा के विचारों का प्रचार और प्रयोग करनेवाली एक सफल और अग्रगण्य संस्था है। गुजरात का बच्चा-बच्चा आज इस संस्था का प्रेमी और प्रशंसक है। आज बीस-बाईस वर्ष से यह संस्था गुजरात काठियावाड़ की अनुपम सेवा कर रही है। इसके प्रधान आचार्य श्री नृसिंहप्रसाद भट्ट एम. ए. (नानाभाई) गुजरात के प्रसिद्ध साहित्य सेवी और धुरन्धर शिक्षा-शास्त्री हैं। आपका सारा जीवन शिक्षा को समर्पित हैं। श्री हरिशंकर त्रिवेदी (हरभाई) संस्था के विनय मन्दिर (हाईस्कूल) के आचार्य हैं। माध्यमिक शिक्षा के आप एक अच्छे विद्वान्, विचारक और सुलेखक हैं। श्री गिरिजाशंकर बधेका (गिजुभाई) बी० ए० एल-एल० बी० हैं। आप पहले वकालत करते थे। बाद में एकाएक आपका ध्यान बाल शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ। आपने डॉ० मोन्टीसोरी के बाल-साहित्य का गहरा अध्ययन किया और 'दक्षिणामूर्ति' संस्था में जुड़ गये। आप बाल-मन्दिर के आचार्य और बाल-साहित्य के धुरन्धर लेखक हैं। श्रीमती ताराबहन मोदक बी० ए० हैं। आप महाराष्ट्रीय हैं। पर बरसों से गुजरात में रहने के कारण आप गुजरातिन-सी बन गई हैं। आपका बाल शिक्षा-सम्बन्धी ज्ञान तल-स्पर्शी है। आपकी बाल-सेवा अनुकरणीय और प्रशंसनीय है। गुजरात

काठियावाड़ में नानाभाई, गिजुभाई, हरभाई और ताराबहन के नाम इतने लोकप्रिय और घर घर की चीज़ हो गये हैं, कि इन महानुभावों की इस महान् सेवा और तपस्या के सामने सहसा सिर झुक जाता है। आप चारों 'दक्षिणामूर्ति' के आजीवन सदस्य हैं। मैं तो कई तरह से आप सबका ऋणी हूँ। 'दक्षिणामूर्ति' के शिक्षण-शास्त्र-सम्बन्धी साहित्य का हिन्दी में उल्था करने की आज्ञा देकर तो आपने मुझे चिरऋणी बना लिया है।

पूज्य गांधीजी तो अकेले गुजरात ही के नहीं, सारे विश्व के महान् गुरु हैं, शिक्षक हैं, और आचार्य हैं। 'शिक्षालयों का आदर्श', शीर्षक एक लेख इस पुस्तक में है, जो सन् १९२९ में बापूजी ने लिखा था। बापूजी के बाल-शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का निचोड़ इस लेख में पाठकों को मिलेगा। उनका आदेश है कि शिक्षक को माता का महान् पद प्राप्त करना चाहिये। पर इस प्रकार की मातृत्व-प्रधान भावनावाले कितने शिक्षक या अध्यापक आज देश में मिलेंगे?

मैं जानता हूँ कि पुस्तक में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। मेरी अल्पज्ञता, अनुभवहीनता, और अयोग्यता ही इसका कारण है। फिर भी मैंने जो धृष्टता की है, उसके लिए मैं पाठकों और आलोचक बन्धुओं से क्षमा का प्रार्थी हूँ। यथाशक्ति अनुवाद की भाषा को सरल, भावों को स्पष्ट और समझने योग्य बनाने में मैंने कोई कसर नहीं रक्खी है। फिर भी आखिर अनुवाद अनुवाद ही है। और इसका दोषी मैं हूँ; मूल लेखकगण नहीं। भिन्न-भिन्न लेखकों के निबन्धों का संग्रह होने से पुस्तक में पुनरुक्ति दोष भी आगया है, जिसे मैं चेष्टा करने पर भी दूर न कर सका। शायद ऐसी पुस्तक में वह अनिवार्य है।

भरसक कोशिश करने पर भी पुस्तक में कहीं-कहीं अशुद्धियाँ रह गई हैं। छपाई भी जितनी सुन्दर मैं चाहता था, नहीं हो पाई। फिर भी जो-कुछ है, पाठकों की सेवा में समर्पित है, और मुझे आशा है कि वे इसके सब दोषों को भुलाकर इसे सहर्ष अपनावेंगे।

इस पुस्तक के कुछ लेख 'आज', 'जैनप्रकाश', 'वाणी', 'विद्यार्थी' वगैरा पत्रों में छप भी चुके हैं, जिसके लिए मैं इन पत्रों के सम्पादक बन्धुओं का हृदय से आभारी हूँ।

प्रकाशन और साहित्य-जगत् में मेरा यह प्रथम प्रयास है। अगर हिन्दी-संसार ने इसे अपनी सहृदयता का सहारा दिया, तो मैं इसी तरह की ४-६ पुस्तकें और भी राष्ट्रभाषा के भण्डार में समर्पित किया चाहता हूँ। ईश्वर करे, मेरा यह महँगा मनोरथ शीघ्र सफल हो!

अजमेर
भाद्रपद शुक्ला
एकादशी, सं० १९८९

विनीत
काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

विद्यार्थी और शिक्षक

'विद्यार्थिओनुं मानस' और अन्य लेखों का
स्वतन्त्र अनुवाद

—काशीनाथ नारायण त्रिवेदी

"विद्यार्थी का कर्त्तव्य है, आत्म-दर्शन करना।

पढाई ऐसी होनी चाहिये, जिससे आत्म-दर्शन हो सके।

शिक्षक ऐसे हों, जिनको आत्म दर्शन का कुछ खयाल है, और जो उसके लिये सतत प्रयत्न करते हैं।

आत्मिक विकास जीव-मात्र की सेवा करने से ही हो सकता है।"

—गांधीजी

× × ×

"बालको को प्रेम द्वारा खूब आगे बढाया जा सकता है। प्रेम कभी दुलार न करे। प्रेम ताड़ना भी न करे। 'ये मेरे हैं', यह माने बिना जो प्रेम होता है, वह सच्चा प्रेम है।"

—गांधीजी

× × ×

"बालक चोरी वगैरा की आदत प्रेम से छोड़ता है। भय से नहीं। धमकाने का असर कम होता है।"

—गांधीजी

× × ×

"चिढ पर ही चिढना चाहिये। विपक्षी पागल हो, तो हम भी वैसे क्यों बनें? बडे आदमी चिढते हैं, तब वे भी भूल करते हैं। उनके, चिढने पर भी जिसे हम सच मानते हैं, उसपर डटे रहें।"

—गांधीजी

× × ×

"जन्म से मनुष्य सदा स्वतंत्र हैं। स्वतन्त्रता मनुष्य का लक्षण है। पूर्ण मनुष्यत्व उसमें है, जो दूसरों के दिये हुए प्रमाणों या सम्मतियों से आन्दोलित हुए बिना स्थिर रहता है, अपनी ही आँखों से देखता है, अपने ही हृदय से अनुभव करता है और जो केवल स्वतत्र प्रज्ञा का ही अधिकार स्वीकारता है। इसलिए शिक्षा का प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए कि जिसके फल स्वरूप मनुष्य अपना स्वाभाविक विकास कर सके और जीवन के चाहे जैसे विकट बाह्य प्रसंगों में भी केवल अपनी वृत्ति का अनुसरण करके जीवन बिता सके।"

—रूसो

परिचय

मानस-शास्त्र के पोथों के एक बड़े ढेर के मुक़ाबले अनुभव का एक रजकण अधिक क़ीमती है। यह सारी लेख माला श्री हरभाई के अनुभव का सुन्दर सार है। इसमें शास्त्रों के बड़े २ सिद्धान्तवादों की चर्चा नहीं है। इसमें तो कोरमकोर अनुभव है। साक्षात् अनुभव की जितनी क़ीमत हम ठहरा सकते हैं, उतनी ही हम इस लेख-माला की भी ठहरा सकते हैं।

लेखों में अनेक दृष्टि बिन्दुओं से विद्यार्थी-मानस का अवलोकन किया गया है। इसमें तर्क-अनुसारी संकलना की अपेक्षा मानसिक दर्शन का विवेचन अधिक है। लेख-माला का क्षेत्र शाला तक ही सीमित न रहकर विद्यार्थियों के वसतिगृहों, माँ-बाप के घरों, माँ बापों और समाज तक पहुँचता है। और जाने अजाने विद्यार्थी के मानस की परीक्षा करते-करते लेखक आज कल के घरों और समाज के मानस को भी स्पर्श कर लेते हैं। इस लेख-माला से हमें पता चलता है कि शाला विद्यार्थी की मनोदशा गढ़ने का कितना अधूरा और लँगड़ा साधन है।

विद्यार्थियों के मानस को घेरे रहनेवाली जिन-जिन निर्बलताओं की इस अनुभवी वैद्य ने चिकित्सा की है, वह उस हद तक यथार्थ है, जिस हद तक इसे विद्यार्थी के मानस का दर्शन हुआ है। परन्तु यह दर्शन सर्वतोमुखी नहीं है, क्योंकि हम जानते हैं कि पूर्व जन्म से लेकर पैदा होने तक और उसके बाद शाला में आने तक बालकों पर जिन-जिन संस्कारों का प्रभाव पड़ता है, वे संस्कार ही रोगों के मूल हैं। ऊपर-ऊपर देखने से पाठकों को ऐसा मालूम होगा, मानों इन लेखों में कई सत्य अपूर्णरूप से समझे गये हैं। लेकिन बात वैसी नहीं है। सत्य अधूरे नहीं समझे गये हैं, बल्कि एकांगी ही हैं, और यह भी तो संभव है, कि लेखक इतनी छोटी-सी लेख-माला में विषय की सर्वांगीण मीमांसा न कर सके हों।

इस लेख के विचार शिक्षा-क्षेत्र में हमें नई ही दिशा का सूचन करते हैं। सजा और इनाम-इकराम की दुष्टता, और आज्ञाकितता सम्बन्धी हमारे वहम किस प्रकार बालकों को कुचले डालते हैं, और इनके कारण कैसे-कैसे भयंकर दोष उत्पन्न होते हैं, इन बातों का यदि हम आज विचार नहीं करते, तो हमारी शिक्षा का भविष्य केवल अंधकार पूर्ण ही समझिये।' सच्चे और वास्तविक रोग, भय और लालच है। भय और लालच से झुठाई, ग़ुलामी, डरपोकपन, हठीलापन वग़ैरा कैसे उत्पन्न होते हैं, यह इस लेख-माला में भली भाँति बताया गया है। यह लेख-माला पढ़ने में जितनी आसान है, विचारों में उतनी ही गंभीर है, और आचरण में उतारने के लिए उससे भी अधिक कठिन है। आज भी हम जूनी-पुरानी और सडी हुई शिक्षा-प्रणाली के दास हैं। इस लेख-माला के थोड़े भी विचारों को यदि हम अपना सकें और उनका अमल करें, तो निश्चय ही हम एक क़दम आगे बढ़ेंगे। हालाँ कि सारी लेख-माला में तो भविष्य की एक स्वतंत्र और उत्तम शाला की धुँधली परन्तु स्पष्ट झाँकी की कल्पना है।

यह लेख-माला केवल उपदेश-वाक्यों में ही समाप्त नहीं हो जाती, इसमें विधि-निषेधों का निर्देश करके इसे यथासम्भव रचनात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया है। जो विचार आज यूरोपियन जगत् में, शिक्षा के क्षेत्र में, ताज़ा से ताजा हैं, वे विचार यहाँ अनुभव से निथर आये है। इसके लिए 'दक्षिणामूर्ति' की वह योजना धन्यवाद की पात्र है, जिसमें शिक्षा सम्बन्धी प्रयोगों को स्थान दिया गया है। ग़ुलामी की पद्धति से पढ़ानेवाले शिक्षक से ऐसे विचार सदा दूर रहते हैं।

पाठ्यक्रम बनाने, समयपत्रक तैयार करने, और गतानुगतिक पद्धति से विद्यार्थी को पढाने का कारखाना चलाने मे प्रजा की मृत्यु है। स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाली प्रजा, सत्ता के विरोध में लडनेवाली प्रजा, जबतक शाला में विद्यार्थियों की स्वतन्त्रता की लड़ाई को नहीं संभालती, तबतक स्वतंत्रता को सपना ही समझना चाहिए। यदि किसी देश की स्वतंत्रता

की परीक्षा करनी हो, तो उस देश की शालाओं को देखिए, और उस देश की शिक्षा पद्धति को देखिए, और उस देश के विद्यार्थियों को देखिये। इसीलिए शिक्षा शास्त्रियों की यह मान्यता है, कि अमेरिका स्वतंत्र नहीं, इंग्लैण्ड स्वतंत्र नहीं, फ्रांस या स्पेन स्वतंत्र नहीं। उनकी मान्यता यह है, कि जहाँ स्वतंत्र शाला होगी, वहाँ सच्ची स्वतंत्रता भी पैदा हो सकेगी। भय, लालच, पाठ्यक्रम की जड़ता, समय-पत्रक की बेड़ी, परीक्षा की महामारी, ये सब परतन्त्रता के लाक्षणिक चिन्ह हैं। हम एक ओर तो स्वराज्य की अभिलाषा करते हैं। और, दूसरी ओर विद्यार्थियों के सम्मेलन करा-कर इनाम बाँटते और सज़ा का डर बताते हैं। परीक्षा की झंझट से भी हम मुक्त नहीं हैं। प्रथम शाला में स्वराज्य और फिर देश में स्वराज्य! मैं तो यह आशा ही नहीं रखता कि शाला में स्वराज्य होने से पहले देश को स्वराज्य मिल जायगा, और यदि मिल भी जाय, तो मैं उसे स्वीकारना नहीं चाहता। जिस प्रकार वाटरलू की लड़ाई ईटन और हैरो के क्रीड़ाङ्गणों पर लड़ी गई थी, उसी प्रकार जबतक शाला के मैदान में स्वराज्य की लड़ाइयाँ लड़ी नहीं जाती हैं तबतक स्वराज्य की साँसत ही रहेगी। जब शाला विद्यार्थी में दोष उत्पन्न करने और उनका पोषण करनेवाली संस्था बनती है, तब निश्चय ही वह देश के जीवन का मृत्यु-घण्ट बजाती है। विद्यार्थी के मानस की परीक्षा करो, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का विचार करो, उस पर प्रेम और विश्वास रक्खो, उसे सुनियन्त्रित स्वातंत्र्य दो, इनाम, भय और परीक्षा की बुराई से उसे मुक्त करो, और फिर देखो, कि वह विद्यार्थी स्वराज्य लेने योग्य बनता है या नहीं। शिक्षक से न डरनेवाला विद्यार्थी पुलिस से भी नहीं डरेगा, लालच में न फँसनेवाला विद्यार्थी इनाम-इकराम या पद-पदवी की भी पर्वा न करेगा; और परीक्षा से अपने विकास का अन्दाज़ा न लगानेवाला विद्यार्थी प्रगति की कोई सीमा ही न जानेगा, उसके लिए प्रगति का क्षेत्र असीम होगा।

आज 'नई शिक्षा,' 'नई शिक्षा' की पुकार तो मच रही है, लेकिन

स्थिर दृष्टि से देखने पर पता चलता है, कि नई शिक्षा भी उसी पुरानी लकीर पर चल कर उन्हीं भयंकर भ्रमों और हानियों के साथ मौत की ओर दौड़ रही है। इतने वर्षों के बाद हिन्दुस्थान शिक्षा में स्वतन्त्रता का उपभोग करना चाहे, और उसे शिक्षा में स्वतन्त्रता का यही अर्थ करने की फिर से इष्टापत्ति प्राप्त हो, कि अमुक निश्चित विषय ही पढ़ाने चाहियें, अमुक समय में विद्यार्थियों को पढ़ाना ही चाहिए, अमुक परीक्षायें पास करानी ही चाहियें, उन्हे अमुक योग्यता हासिल करनी ही चाहिये, तो वह हमारा दुर्भाग्य ही होगा। यदि मुझे अधिकार मिलें, तो मैं वर्तमान शालायें बन्द करा देने, सदा के लिए बन्द करा देने, की सलाह दूँ। किसी भी भय, किसी भी लालच, किसी भी अभ्यासक्रम को विद्यार्थियों की इच्छा के विरुद्ध, विद्यार्थियों की शक्ति के विरुद्ध, जो शाला उनके गले उतारने का प्रयास करती है, वह शाला निश्चय ही विनाश के मार्ग पर है। हमें तो ऐसी शालाओं की जरूरत है, जहाँ शिक्षक पाण्डित्य का दिखावा एक ओर रख कर अत्यन्त नम्रभाव से विद्यार्थियों का अनुसरण करता है, और विद्यार्थियों में छिपे हुए लोकमान्य तिलक, जगदीशचन्द्र वसु, अध्यापक गजर, स्वामी रामानुजम्, कविवर ठाकुर या साहित्य-सम्राट् बंकिम अथवा महात्मा गांधी जैसों को ढूँढकर उनके स्वयं विकास के मार्ग को निष्कण्टक बनाता है। जो शिक्षक विद्यार्थी के मानस और चरित्र निर्माण का दावा करता है, वह गुनाह करता है। यदि हमें भावी सन्तान को अपनी अपेक्षा उन्नत बनाना हो, तो हमें उसे हमारे ही जैसे साँचे में ढालने की अज्ञानपूर्ण ममता का त्याग करना चाहिए। यदि हम विद्यार्थियों को राष्ट्र के लिए तैयार करने के अपने दंभ का त्याग करके, उन्हें उनके जीवन-विकास के पथ पर जाने की शक्ति प्रदान करने में आवश्यक सहायता करेंगे, तो वह सहायता ही हमारे लिए शोभारूप होगी। हम विद्यार्थी को मनुष्य बनाने का मोह छोड़कर उसे मनुष्य बनने से न रोकें, तो भी बहुत कुछ कर चुके होंगे, उसे कुटुम्ब प्रेमी, राष्ट्र-प्रेमी, या मनुष्य प्रेमी बनाना हमारा

कर्तव्य नहीं; बल्कि उसे राष्ट्रप्रेम, कुटुम्बप्रेम अथवा लोकप्रेम और समष्टिप्रेम से वञ्चित न रखना हमारा फ़र्ज़ है। इसीलिए हमें विद्यार्थी के मानस से परिचित होने की आवश्यकता है। गणित के घण्टे में चित्र खींचनेवाला विद्यार्थी मन्दबुद्धि नहीं है, बल्कि जो शिक्षक उसकी रुचि को पहचान कर उसे चित्रकला सिखाने के बजाय गणित के आँकडे उसके दिमाग़ पर कुरेद कर उसे खोखला बनाता है, वह शिक्षक सच्चे शिक्षण के विषय में कुछ भी नहीं जानता। जो शिक्षक अधीर बन कर हुक्मों-द्वारा विद्यार्थी से संयम पलवाता है, वह स्वयं ही संयमी नहीं है; उसका हुक्म ही इस बात की गवाही दे रहा है। जो शिक्षक विद्यार्थियों के लिए नियमों का ताँता तैयार करता है, और उनसे नियमानुसार काम करवा कर खुश होता है, उस शिक्षक को विद्यार्थी में श्रद्धा नहीं, उल्टे वह अश्रद्धा का गुलाम है, इसमें जरा भी शक नहीं। जो शिक्षक विद्यार्थी का आदर किये बिना आदर की अपेक्षा रखता है, वह स्वय ही अपना घोर अपमान करता है।

झूठ बोलना, चोरी करना, तुच्छता बतलाना, ठूँस-ठूँस कर खाना, आवारागर्द होना, गुलामी करना आदि तमाम बातों के लिए यदि कोई जिम्मेदार है, तो वह हमारा समाज है, शिक्षक हैं, और स्वयं माँ-बाप हैं। विद्यार्थी तो अधिकतर हमारे ही पापों के शिकार बन जाते हैं, लेकिन जब हम अपने पापों का प्रायश्चित्त नहीं कर सकते, तब उनके लिए विद्यार्थियों को सजा देकर हम उन पापों का बदला चुकाने का प्रयत्न करते हैं। शालायें स्थापित करके उन्हें 'सुधारा' जाता है, जब कि हमारे यहाँ अभी गुनाह करके विद्यार्थी को गुन्हे से मुक्त करने का भयंकर और हास्यास्पद प्रयत्न किया जाता है। इस छोटी सी लेख-माला के विचार सादे, लेकिन क्रान्तिकारक हैं। बिखरे हुए होते हुए भी बलवान् हैं, और समझने में सरल होते हुए भी आचरण के लिए कठिन हैं। लेखों की नवीनता, विचारों की नवीनता की अपेक्षा भी विचारों के समर्थन में है, और, उससे भी अधिक

नये विचार में श्रद्धा की नवीनता में है। जब आदमी कुछ देर पढ़ाने के श्रम से मुक्त होकर पढ़नेवाले को निहारता है, तब वह पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले दोनों की पामरता को समझ सकता है। यह लेख-माला विद्यार्थियों और शिक्षकों की ऐसी ही पामरता की एक लम्बी शोचनीय सूची है।

यदि यह लेख-माला अधिक सावधानी के साथ और एक ही वक्त बैठ कर लिखी जाती, तो इसमें कहीं-कहीं पुनरुक्ति का जो दोष है, वह भी न रह पाता। यह लेख माला मानस शास्त्र के मार्ग पर है, और इसी में इसकी जो कुछ विशेषता है, सो है।

श्री० हरभाई मेरे मित्र हैं। शिक्षण शास्त्र के रसिक और अभ्यासी हैं। और, इस विषय की चर्चा हम बार-बार घण्टों बैठकर किया करते हैं। हमारे भाईचारे के कारण इस परिचय में कहीं उनकी स्तुति-सी दिखाई पड़े, तो पाठकों को इतना स्नेह-जन्य पक्षपात अवश्य ही निबाह लेना चाहिए।

गिजुभाई

भूमिका

विद्यार्थियों के साथ काम करनेवाले हरएक शिक्षक का यह अनुभव होगा, कि भिन्न भिन्न अवसरों पर वे अपनी शारीरिक और मानसिक कमजोरी का दर्शन कब कब और कै के बार कराते हैं। ऐसे मानसिक दर्शनों पर ध्यान देने और तदनुसार यथाशक्ति अपने काम की दिशा ठहराने को जबतक शिक्षकगण तैयार न होंगे, तबतक शिक्षा के क्षेत्र में जो आवश्यक परिवर्तन हम किया चाहते हैं, वे कदापि नहीं किये जा सकेंगे। भिन्न भिन्न विद्यार्थियों की शारीरिक और मानसिक कमज़ोरियों का जो परिचय हमको मिला करता है, इस लेख-माला में, समय-समय पर, उसका उल्लेख किया जायगा, और इस बात का भी अङ्गुलि-निर्देश किया जायगा कि ऐसे मौकों पर शिक्षक को कितना सावधान रहना और कैसे उपाय करना चाहिये, कि जिससे विद्यार्थियों के हित की रक्षा हो, और उनके विकास का मार्ग सरल बनाया जा सके।

शिक्षक जिन्हें विद्यार्थियों की बुरी आदतें मानने को प्रेरित होता है, वे वास्तव में उनकी बुरी आदतें नहीं, बल्कि संयोग, वातावरण, मिथ्या नियंत्रण या शारीरिक और मानसिक कमजोरियों के फल हैं। इस लेख माला को पढ़ने-से यह बात शिक्षक के ध्यान में आसानी से आ जायगी।

विद्यार्थियों में घुसी हुई अथवा ऊपर बताये गये कारणों की वजह से पैदा हुई कमजोरियाँ तो अनेक गिनाई जा सकती हैं, परन्तु यहाँ तो खास-खास बातों का ही उल्लेख करने का विचार है। साधारणतया जो बातें शिक्षक के सामने बार बार पेश होती हैं, और उसे परेशान किया करती हैं, उन्हींको ध्यान में रखकर इस लेख-माला में उनके सम्बन्ध की चर्चा की गई है।

[१]

आज्ञापालकता

विद्यार्थी को आज्ञापालक तो बनना ही चाहिये, जो हुक्म शिक्षक करे उसकी तामील उसे करना ही चाहिये, उसके स्वतन्त्र बुद्धि हो ही नहीं सकती, वगैरा धारणायें आज भी शिक्षकों में प्रचलित दिखाई पडती है। आज्ञापालकता का अर्थ क्या है, वह कैसे उत्पन्न होती है, किस प्रकार की होनी चाहिये, वह किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है, आदि बातों को यदि शिक्षक जानता हो, तो जो बहुतेरे विद्यार्थी शिक्षकों की कठोरता और क्रूरता के फलस्वरूप गुलाम जैसे बनकर रहते हैं, वैसे न रह सकें। यहाँ हम इसका थोड़ा विचार करेंगे।

आज्ञापालकता अलबत्ता एक सद्‌गुण है, परन्तु वह किस प्रकार का होना चाहिये ? यह एक सवाल है। शालाओं में हम इसके भिन्न-भिन्न प्रकार देखते हैं। कोई विद्यार्थी डर के कारण शिक्षक की आज्ञा मानता है, तो कोई खुशामद के लिये, कोई शिक्षक का प्रिय बनने के लिये उसकी आज्ञा मानता है, तो कोई अपना मतलब गाँठने के लिये। कोई विद्यार्थी तो इतना मूढ़ बन जाता है, कि वह मात्र आज्ञापालन में ही समझता है। उसमें न तो विकसित विवेक रहता है, न विचार। शायद ही कोई ऐसा विद्यार्थी होता हो, जो सारासार को समझ कर या शिक्षक के प्रति प्रेम, श्रद्धा अथवा सद्‌भाव से प्रेरित होकर, या अपनी जिम्मेदारियों को समझ कर शिक्षक की आज्ञा मानता हो। इन तमाम सद्‌गुणों के विकास के लिए विद्यार्थी को शिक्षक की ओर से अवकाश ही नहीं मिल पाता। वह तो विद्यार्थी से सिर्फ़ कठोर आज्ञापालकता (Slave obedience) की ही आशा रखता है। और, कोई-कोई अज्ञान शिक्षक तो यह भी कहा करते

हैं, कि विद्यार्थी को अपनी वृत्ति (इच्छा) पर अधिकार प्राप्त करना सीखना चाहिये न ? और, इस प्रकार का अधिकार या क़ाबू प्राप्त करने का एक ही मार्ग है। यह कि विद्यार्थी अपनी वृत्ति या इच्छा को दबा दे, और शिक्षक की वृत्ति या इच्छा के अधीन हो जाय। इसीका नाम है, आज्ञापालक बनना ! परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी में कमजोरी घर कर लेती हैं। वह पराधीन बन जाता है। शिक्षक का ग़ुलाम बन कर रहता है। किसी भी मौक़े पर वह स्वतन्त्र-रूप से विचार या निर्णय कर ही नहीं सकता। उसे शिक्षक की आज्ञानुसार ही चलने की आदत पड़ जाती है। और, जिस प्रकार एक ग़ुलाम बिना सोचे-समझे अपने मालिक के हुक्मों की तामील करता है, उसी प्रकार विद्यार्थी भी शिक्षक की आज्ञा के अधीन रहता है। शिक्षक भी इतना अधिक गुस्ताख़ बन सकता है, कि अगर उसके हुक्मों की इज्जत न की गई तो वह विद्यार्थी को सजा देता है, या सज़ा का डर बताता है !' परिणाम की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार की आज्ञापालकता का नाम ग़ुलामी है। जैसे एक ग़ुलाम अपने मालिक के, कुत्ता लात के, और घोड़ा चाबुक के वश होता है, वैसे ही विद्यार्थी शिक्षक के वश रहता है। पर जिस समय यह अंकुश नहीं रहता, उस समय आज्ञाशीलता भी काफ़ूर हो जाती है, और विद्यार्थी लुच्चा, ढोंगी और खल बन जाता है।

कई शालाओं में विद्यार्थी को आज्ञापालक बनाने के उद्देश्य से क़वायद सिखाई जाती है। Discipline (व्यवस्था), Concerted action (एकत्र कार्य), Attention (ध्यान) आदि की तालीम देने के लिए शालाओं में फ़ौज़ी क़वायद करवाई जाती हो, तो भी कुछ ठीक है; लेकिन मालूम होता है, लोग इस उसूल को ही भूल गये हैं। एक शाला के शिक्षक से, जो अपने विद्यार्थियों को फ़ौज़ी कवायद सिखा रहे थे, मैंने पूछा—"आप शाला में फ़ौजी क़वायद किसलिए सिखाते हैं ?" उन्होंने फ़ौरन ज़वाब दिया—"विद्यार्थियों को आज्ञापालन की ठीक तालीम देने के लिए !" ऐसे हेतु से जिस शाला में फ़ौजी क़वायद सिखाई जाती है,

वहाँ विद्यार्थियों को गुलाम बनाने के सिवा और कोई हेतु सिद्ध हो ही नहीं सकता। ऐसी कवायद से विद्यार्थी या तो गुलाम बन जाता है या फिर उद्धत और उच्छृंखल बन जाता है।

साधारणतया बालक विद्यार्थी में सद्-असद् विवेकबुद्धि कम मात्रा में होती है। साथ ही उसे हमेशा और हर मौक़े पर उसकी स्वतन्त्र बुद्धि के अनुसार चलने देने से उसकी हानि होना भी सम्भव है। इसके अलावा, कई अवसरों पर विद्यार्थी की मानसिक या शारीरिक कमजोरी भी उसे कुमार्ग की ओर ले जाती है। इन सब बातों का विचार करने से पता चलता है, कि उसे कभी न कभी शिक्षक के निर्णय पर आधार रखना ज़रूर पड़ेगा, और कुछ मामलों में, जिनमें विद्यार्थी का बिलकुल दखल ही नहीं है, उसे शिक्षक के कथनानुसार काम करना भी पड़ता है। तो सवाल यह सहज ही खड़ा होता है, कि विद्यार्थी आज्ञा-पालक होते हुए भी गुलाम न बने; विद्यार्थी शिक्षक की आज्ञा मानते हुए भी कभी पराधीन न हो, विद्यार्थी शिक्षक के वश में रहते हुए भी स्वतन्त्रता न खो बैठे, विद्यार्थी शिक्षक का कहा सिर-माथे चढ़ाता हो, और तो भी विवेकवान हो, यह सब किस प्रकार हो सकता है ?

प्रेमरूपी अद्भुत संजीविनी का जो शिक्षक उपयोग करता है, उसका विद्यार्थी पर जादू का-सा असर पड़ता है। जहाँ प्रेम है, वहाँ सब है। शिक्षक विद्यार्थी को सच्चे दिल से चाहता है, तो विद्यार्थी का भी शिक्षक पर सच्चा प्रेम होता है, और शिक्षक के प्रति का यही प्रेम विद्यार्थी को उसका आज्ञापालक बनाता है। अपने ऊपर प्रेम रखनेवाले की आज्ञा मानने में विद्यार्थी अपना सम्मान ही समझता है। विद्यार्थी बालक होने के कारण संभव है, कि उसमें अज्ञान और कमज़ोरियाँ हों। जहाँ उसे रास्ता नहीं सूझता, वहाँ वह दूसरे की बुद्धि और दूसरे के ज्ञान का आश्रय ढूँढता है। ऐसा आश्रय यदि उसे किसी प्रेमी की तरफ से मिल जाता है, तो वह उसी प्रेमी की बुद्धि और ज्ञान का सच्चा लाभ उठा सकता है। और, परिणाम

में, आज्ञांकित रहते हुए भी अपने विकास में क्रमशः उन्नति ही करता जाता है। इसीलिए शिक्षक का प्रेमी होना, उसकी बड़ी से बड़ी योग्यता है। जिसमें प्रेम नहीं, वह शिक्षक होने के योग्य नहीं। विद्यार्थी पर प्रेम रखनेवाला शिक्षक ही विद्यार्थी को सच्चे रास्ते ले जा सकता है। विद्यार्थियों की भूलें सुधारने और उनकी कमज़ोरियाँ दूर करने के लिये हर तरह के उपाय जहाँ निष्फल होते हैं, वहाँ प्रेमी शिक्षक की छोटी सी आज्ञा ही सफल सिद्ध होती है। जहाँ विद्यार्थियों का बड़ा समूह ग़लत रास्ते पर जा रहा हो, वहाँ भी शिक्षक की प्रेमपूर्ण वाणी बहुत कुछ कर सकती है। और, जहाँ स्वेच्छा से और प्रेम के वश होकर आज्ञा माननी है, वहाँ माननेवाला कमज़ोर नहीं होता जाता, बल्कि अधिक बलवान बनता जाता है। प्रेम के वश बर्तनेवाला विद्यार्थी अपनी ग़लती फौरन ही समझ जाता है। कबूल कर लेता है। शिक्षक की आज्ञा मानने में वह अपना उत्कर्ष ही देखता है। ऐसी आज्ञापालकता भय, लालच या स्वार्थ से उत्पन्न नहीं होती। वह तो सच्चे प्रेम का ही परिणाम होती है। ऐसी आज्ञा से विद्यार्थी अपने हक बढे हुए अनुभव करता है, और इसलिये वह उसे स्वेच्छा से ही शिरोधार्य करता है। ऐसी आज्ञापालकता विद्यार्थी का सद्गुण बनकर रहती है।

विद्यार्थी को सच्चे अर्थ में आज्ञापालक बनाने के लिए दूसरी भी एक-दो बातों की ज़रूरत है। प्रेम के साथ उनका समुचित सयोग होने से बालक सच्चे अर्थ में आज्ञांकित बनता है और उनसे वह लाभ भी उठा सकता है। इसमें शिक्षक के चरित्र को महत्व का स्थान दिया जा सकता है। शिक्षक में जो-जो अच्छी या बुरी आदतें होती हैं, जिस प्रकार का जीवन वह बिताता होता है, उसका विद्यार्थी पर गहरा असर पड़ता है। इसलिये शिक्षक का ख़ानगी और सार्वजनिक जीवन जितना नीतिमय और विशुद्ध होता है, विद्यार्थी के जीवन के भी उतने ही नीतिमय और विशुद्ध होने की संभावना है। कहा जाता है कि बालक प्रेम के अधीन रहता है। और, यह

भी, कि सत्य की ओर सब कोई आकर्षित होते हैं। तो फिर विशुद्ध जीवन बितानेवाले प्रेमी शिक्षक की तरफ बालक खिंचे, इसमें आश्चर्य ही क्या? ऐसे शिक्षक की आज्ञा मानने को तो वह हमेशा कमर कसे खड़ा ही रहता है। ऐसे शिक्षक की आज्ञापालनेवाला शिष्य सदा सर्वदा उन्नति ही करता जाता है। शाला का साधारण वातावरण भी ऐसे प्रकार का होना चाहिये, कि जिससे विद्यार्थी किसी भी उचित आज्ञा का पालन करने में हीनता न समझे। शाला के नियम वग़ैरा कठोर होने पर भी उदार दृष्टि-पूर्वक बनाये जाने चाहियें और, जिस नियम के पालन की आशा शिक्षक विद्यार्थी से रखता हो, उस नियम का पालन उसे स्वयं भी करना चाहिये। नियम बनानेवाले और सिर्फ़ उसका अमल करानेवाले शिक्षक विद्यार्थी को आज्ञाशील नहीं बना सकते। इससे तो विद्यार्थी के मन में शिक्षक के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है और जिसके प्रति प्रेम या स्नेह न हो, वैसा शिक्षक विद्यार्थी में आज्ञापालकता सरीखा सूक्ष्म सद्‌गुण कैसे पैदा कर सकता है? सच्चा शिक्षक अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से वातावरण ही ऐसा खड़ा कर लेता है, कि विद्यार्थी स्वभाव ही से वैसे शिक्षक की आज्ञा के वश में रहते हैं।

[२]

असावधानी

कम उम्र के कारण विद्यार्थी एकाग्र नहीं रह सकते। एकाग्र और एक-ध्यान होने की क्रिया अधिकांश मानसिक क्रिया है। बालक विद्यार्थियों में इसे विकसित होने देने का काम शिक्षक का है। विद्यार्थी बार-बार कक्षा में असावधान रहे, तो शिक्षक को इसका मूल कारण खोज निकालना चाहिये, और समुचित उपाय करना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षक मानस-शास्त्र के कुछ साधारण नियमों को जान ले। विद्यार्थी ध्यान क्यों नहीं देता है, उसके ध्यान न देने के कारण क्या हैं, और वे कैसे दूर किये जा सकते हैं, नीचे हम इन्हीं बातों का विचार करेंगे।

किसी भी कार्य में तल्लीन हो जाने के लिये, अर्थात् एकाग्र बनने के लिये, मनुष्य में प्रबल इच्छा-शक्ति (Will Power) की आवश्यकता है। इच्छा-शक्ति के सरल कार्य के बिना एकाग्र नहीं हुआ जा सकता। जहाँ इच्छा न हो, वहाँ आदमी एकाग्र हो ही कैसे सकता है? शिक्षक को याद रखना चाहिये, कि प्रबल इच्छा शक्ति बड़े मनुष्यों में भी क्वचित् ही पाई जाती है, तो फिर बालक विद्यार्थी में तो वह हो ही कितनी सकती है? लेकिन इच्छा शक्ति का विकास किया जा सकता है, और सच्चा शिक्षक यह काम कर सकता है। जैसे जैसे बालक में इच्छा-शक्ति का विकास होता है, वैसे-वैसे वह अपने मनोव्यापार पर क़ाबू प्राप्त करता जाता है, और जैसे-जैसे बालक मन पर क़ाबू प्राप्त करता जाता है, वैसे वैसे उसमें एकाग्र बनने की ताक़त बढ़ती जाती है। जो शिक्षक इच्छा शक्ति के नियम को जानता है, वह ध्यान न देनेवाले विद्यार्थी पर चिढ़ता या गुस्सा नहीं करता, बल्कि इस बात का पूरा प्रयत्न करता है, कि विद्यार्थी

की इच्छा-शक्ति कैसे बढे ? बार बार असावधान रहनेवाले विद्यार्थी के प्रति उसके दिल में अधिकाधिक दया और सहानुभूति उत्पन्न होती है, और वह इस बात का जी-तोड़ प्रयत्न करता है कि विद्यार्थी की इच्छा-शक्ति का विकास करके वह उसे एक ही विषय में तल्लीन रहनेवाला बना दे।

शिक्षक के धन्धे की सफलता का अधिकतर दारोमदार अच्छी से अच्छी शिक्षा प्रणाली पर है। यह बात आज किसी भी शिक्षक से छिपी नहीं है। पद्धति के विषय में यदि शिक्षक अद्वितीय हो, तो वह अपने विद्यार्थियों का ध्यान एक ही विषय में एकाग्र कर सकता है। शिक्षक में कुछ ऐसी स्वाभाविक शक्तियाँ ही होती हैं, जिनके द्वारा वह अपने विषय को पढ़ाते समय विद्यार्थी को एकाग्र बना सकता है। जिसमें ऐसी शक्ति कम हो, या बिलकुल न हो, उसे यह शक्ति अपने अंदर पैदा करनी चाहिये। हँसता हुआ चेहरा, और आनन्दी स्वभाव शिक्षक के दो आवश्यक सद्गुण हैं। अच्छी से अच्छी शिक्षा-प्रणाली का जानकार हो, परन्तु साथ ही यदि शिक्षक को अपना मुँह फुलाये रखने की आदत हो, तो ऐसे शिक्षक के पढ़ाने में विद्यार्थी को मज़ा नही आता। इससे विद्यार्थी स्वभावत. असावधान बन जाता है। जिस शिक्षक के पास प्रफुल्ल मुख और आनन्दी स्वभाव नही है, वह सफल शिक्षक नहीं बन सकता। आनन्दी और हँसमुख शिक्षक विद्यार्थी के चित्त को विलक्षण रीति से अपनी ओर खीचे रहता है, और अपनी इच्छानुसार विद्यार्थी की चित्त वृत्ति को बदल सकता है।

बालक नवीनता का बहुत शौक़ीन होता है। इसलिये अपना विषय पढ़ाने में शिक्षक को नवीनता पैदा करने की बहुत की ज़रूरत है। नवीनता बालक विद्यार्थी को पदार्थ विशेष की तरफ आकर्षित करती है, और नतीजा यह होता है, कि बालक असावधान बनने से बाज आता है। विषय-निरूपण में ऐसी नवीनता का उपयोग बहुत ही ज़रूरी है।

कुछ काम ऐसे होते हैं, कि जिनमें विद्यार्थी की बुद्धि-शक्ति प्रवेश ही

नहीं करती। इससे भी विद्यार्थी उस काम में एकाग्र चित्त नहीं हो सकता। विद्यार्थियों की शक्तियों का माप न जाननेवाला अनगढ़ शिक्षक ऐसे समय विद्यार्थी पर गुस्सा होता है, और उसे ध्यान न देने के लिये उलाहना देता है। परन्तु वह समझ नहीं सकता कि विद्यार्थी को सौंपा गया काम ही उसकी शक्ति के बाहर है। उस काम में विद्यार्थी एकाग्र चित्त कैसे रह सकता है? विद्यार्थी को जो काम सौंपा जाय, उसकी शक्ति की मर्यादा का विचार करके ही सौंपा जाना चाहिये।

कुछ विद्यार्थियों को किसी ख़ास विषय में मजा नहीं आता। उस विषय का अभ्यास उनके मानसिक झुकाव के विपरीत होता है। उदाहरण के लिये, कुछ अच्छे और बुद्धिशाली विद्यार्थियों को गणित के विषय से ज़रा भी दिलचस्पी नहीं रहती। मैंने स्वयं इसका अनुभव किया है। उन्हें यह विषय ही सूखा और नीरस मालूम होता है। ऐसे मामलों में शिक्षक को विषय सिखाने का आग्रह नहीं रखना चाहिये। विद्यार्थी उस विषय में दिलचस्पी नहीं ले सकता। फलस्वरूप वह असावधान ही रहता है।

कई शालाओं का प्रबन्ध और रचना ही ऐसी होती है, कि जिनके कारण विद्यार्थी अपने काम में एकाग्र रह ही नहीं सकता। बैठने की बेञ्चें ऐसी बेढंगी और प्रमाण-रहित होती हैं, कि जिनपर बैठने से विद्यार्थी को स्वभावतः आलस्य आ जाता है। बैठने के कमरे में हवा और उजेला बिलकुल ही नहीं होते। जिस कमरे में हवा की आमदरफ़्त कम होती है, उस कमरे की बँधी हुई हवा का विद्यार्थी के दिमाग़ पर फ़ौरन ही असर पड़ता है। उसका दिमाग़ भारी हो जाता है। शरीर में आलस्य घिरने लगता है। आँखें भारी बनने लगती हैं। नतीजा यह होता है, कि विद्यार्थी चालू विषय को एकाग्र होकर सुन ही नहीं सकता।

कुछ मदरसों में एक ही कक्षा में ज़रूरत से ज़्यादा विद्यार्थी बैठाये जाते हैं। इससे भी विद्यार्थी पास बैठे हुए विद्यार्थियों के साथ निरर्थक

बातचीत और खेल कूद करने को ललचाते हैं, और कक्षा की चालू पढ़ाई में ध्यान नहीं देते। शाला और कक्षा के ऐसे वातावरण में (जहाँ विद्यार्थी अपने शारीरिक स्वास्थ्य की भी मुश्किल ही से रक्षा कर सक्ते हैं) मानसिक एकाग्रता कैसे आ सकती है ? शाला की आरोग्यजनक (Hygienic) अथवा अनारोग्यजनक परिस्थिति विद्यार्थी के मन पर खूब असर डालती है। इसलिए परिस्थिति का वातावरण बहुत ही सावधानी के साथ और शास्त्रीय दृष्टि से पैदा किया जाना चाहिए।

जो शिक्षक इस सिद्धान्त का ठीक रहस्य नहीं समझते, कि विद्यार्थी को तो स्वयं ही सब काम करने चाहिएँ, वे इस सिद्धान्त की हद से अधिक खींचतान किया करते हैं, अर्थात् जब विद्यार्थी को उसके काम में उचित मदद करने से (जब काम कठिन और नया होता है) वह अपना काम उत्साह के साथ और जल्दी पूरा कर सकता है, तब भी शिक्षक उस विद्यार्थी की बिलकुल मदद नहीं करते। परिश्रमी और लगनवाला विद्यार्थी उस काम को पूरा करने के लिए उत्साह के साथ मेहनत करता रहता है, लेकिन काम की कुञ्जी हाथ न लगने से आख़िर वह थक जाता है और फिर भविष्य में वैसे काम की ओर से उदासीन बनता जाता है। इसके विपरीत यदि शिक्षक एक बार उसे उचित मार्ग बता देता है, तो फिर विद्यार्थी अपने ही उत्साह और कर्त्तव्य के बल पर आगे बढ़ा चला जाता है, और उस विषय या काम से उकताने के बदले उसे उसमें मज़ा आने लगता है। इस प्रकार जिस काम को विद्यार्थी अधिकतर अपने ही परिश्रम से सिद्ध करता है, उस काम में वह दिनोंदिन अधिक तल्लीन बनता जाता है। इसीलिए शिक्षक को यह बात समझ कर सोच लेनी चाहिये, कि विद्यार्थी को किस समय उसे कितनी मदद करनी होगी। शिक्षक के लिए भी यह काम कुछ कठिन तो है, परन्तु अभ्यास और अनुभव से सिद्ध किया जा सकता है।

विद्यार्थी को किसी एक विषय में एकाग्रचित्त बनाने के लिए समय-

पाठ्यक्रम की रचना पर भी ध्यान रखने की खास ज़रूरत है। जहाँ सम्भव हो, वहाँ विषयों का अनुक्रम इस प्रकार से रखना चाहिए, कि कठिन और यादृदाश्त को कसनेवाले और बुद्धि को श्रम पहुँचानेवाले विषय पहले रक्खे जायँ, और बाद में धीरे धीरे आसान और आसान विषय पढ़ाये जायँ। इसके सिवा दो विषयों की पढ़ाई के दरम्यान कुछ आराम का समय भी दिया जाय, तो अच्छा हो। इससे विद्यार्थी को कुछ आराम मिलता है, और अगले विषय के लिए वह अपने मन और शरीर को तैयार कर लेता है। ऐसे आराम के समय में विद्यार्थी को खुली हवा में घूम लेने देना चाहिए। खुली हवा और शरीर के हलन-चलन से उसमें आवश्यक स्फूर्ति आ जाती है और अगले विषय में वह आसानी से मन लगा सकता है।

शाला का मकान जिस जगह होता है और कक्षाओं की बनावट जिस प्रकार की होती है, उसका भी विद्यार्थी के चित्त पर बहुत अधिक असर पड़ता है। यदि शाला के मकान ऐसे मुहल्ले में हैं, जहाँ खूब शोरोगुल मचा रहता है, तो विद्यार्थी मुश्किल से एकचित्त रह सकता है। आस-पास की परिस्थिति विद्यार्थी के चित्त को डाँवाडोल बना देती है; फलतः वह अपने कामों में मन नहीं लगा सकता। इसीलिए पुकार-पुकार कर कहा जाता है कि शाला का मकान हमेशा गाँव या शहर के बाहर ही रक्खो। गाँव के शोरोगुल से शाला का मकान सदा मुक्त रहना चाहिए। साथ ही, वह अत्यन्त शान्तिवाले स्थान में होना चाहिए। इसके अति-रिक्त यदि कक्षा की रचना भी ग़लत तरीक़े पर की गई हो, तो उससे भी विद्यार्थी के चित्त को क्षोभ पहुँचता है। आम रास्ते के नज़दीक ही कक्षा बैठती हो, खिड़कियों और दरवाज़ों का रुख रास्ते की तरफ ही हो, और विद्यार्थियों की बैठक इस प्रकार से जमाई गई हो कि उनकी नज़र तुरत ही रास्ते की तरफ दौड़ जाय, तो विद्यार्थी का चित्त उधर खिंचता है, और राहगिरों और गाड़ी-घोड़ों की आहट उसके काम में ख़लल डालती है। इस बात का भी उचित विचार करके शाला के शिक्षकों को समुचित

प्रबन्ध करना चाहिए। इसके अलावा, शाला की भिन्न-भिन्न कक्षाओं की रचना भी ऐसी होनी चाहिए कि एक कक्षा का शोर दूसरी कक्षावालों को बाधक न हो। अन्यथा कमजोर विद्यार्थी का चित्त अपनी कक्षा के बाहर से आनेवाली आवाज़ की तरफ आकर्षित होता है, और वह अपने काम में एकचित्त नहीं हो सकता।

बालक विद्यार्थी अवलोकन का बहुत शौक़ीन होता है; वह काम से प्रेम करता है, और उसमें जिज्ञासा की वृत्ति ख़ास तौर पर होती है। विषय पढ़ाते समय शिक्षक को इन तीनों बातों पर ध्यान रखना और इनका उपयोग करना चाहिए। शिक्षा मे क्रिया का निश्चित स्थान होता है। विद्यार्थी की अवलोक-शक्ति से लाभ उठा कर उस पर शिक्षा की नीति ठहराई जाय, और उसकी जिज्ञासा-वृत्ति को उचित उत्तेजन देकर पुष्ट किया जाय, तो विद्यार्थी को बेख़बर रहने का मौक़ा ही न मिले। जो शिक्षक इन तीनों बातों का अपने शिक्षण में उपयोग करता है, उस शिक्षक के वर्ग में विद्यार्थी हमेशा एकाग्र रहकर काम करते देखे गये है।

विद्यार्थियों के असावधान रहने के जो थोड़े महत्व के कारण ऊपर बताये गये है वे नासमझ शिक्षकों के ध्यान में नहीं रहते, इसीसे वे बार-बार विद्यार्थियों के साथ कठोर बरताव करते देखे जाते हैं। कई बार तो वे विद्यार्थी को शरमाते हैं, उलाहना देते हैं, ताना मारते हैं, और टोका करते हैं। इसकी वजह से विद्यार्थी एकाग्रचित्त नहीं रह सकता। इससे तो उलटे उसका चित्त डाँवाडोल और क्षुब्ध रहता है। ऊपर से वह अपने काम में लगा हुआ दिखाई पड़ता है, परन्तु मन ही मन अनेक तरह के तर्क-वितर्क करता रहता है। उसका चित्त भले-बुरे विचारों के प्रवाह में बहने लगता है; और वह अपने काम में मन नहीं लगा सकता। अतएव शिक्षक को चाहिए कि वह विद्यार्थी की बेख़बरी या असावधानी के सच्चे कारण खोज निकाले और तदनुसार उनका उपाय करके ऐसी कोशिश जिससे विद्यार्थी उस विषय में दिलचस्पी लेने लगे।

[२]

आवारापन

कुछ विद्यार्थियों में इधर-उधर बेकार भटकते फिरने की आदत होती है। घर से रवाना होने के बाद शाला में जाने के बदले विद्यार्थी सीधा भटकने को निकल पड़ता है; या शाला से किसी न किसी बहाने छुट्टी लेकर घर जाने के बजाय चाहे जहाँ घूमता फिरता है। बहुतेरे विद्यार्थियों में ऐसी कुटेव पाई जाती है। यह बुरी बान किन कारणों से विद्यार्थियों में घुस जाती है, और क्या उपाय करने से विद्यार्थी इसके शिकार नहीं बनते, या बन गये हों, तो उससे बच सकते हैं, नीचे हम इसी का विचार करेंगे।

कुछ शालाओं का साधारण जीवन ही ऐसा होता है, कि विद्यार्थी के लिये यह कठिन हो जाता है। बालकों को स्वतन्त्रता बहुत ही प्यारी होती है। जब-जब उन्हें शाला के नियम अथवा शाला का वातावरण बंधन-रूप मालूम होता है, तब-तब वे शाला को अपनी स्वतन्त्रता की विरोधिनी समझते हैं। मनुष्य-मात्र अपनी ज़िन्दगी का सच्चा मज़ा तो तभी ले सकता है, जब मनुष्य अपने को सम्पूर्ण सुखी और आनन्दी मानता हो। स्वतन्त्रता के बिना सुख और आनन्द सरीखे मनुष्य-जीवन के आवश्यक तत्त्वों की हस्ती हो ही नहीं सकती। परतन्त्रता की बेड़ियों से जकड़ा हुआ मनुष्य अपनी जिन्दगी को किसी भी हालत में सुखी और आनन्दी नहीं मान सकता। जिस शाला में विद्यार्थी पर कठोर दबाव और झूठा नियन्त्रण रक्खा जाता है, वहाँ विद्यार्थी का सुख और आनन्द लुट जाता है। ऐसी शाला में वह अपने आपको सुखी या आनन्दी नहीं बना सकता। ऐसी शाला में उसे एकदम पराधीन और परतन्त्र जीवन बिताना पड़ता है। ऐसे मदरसे, मदरसे नहीं, परन्तु क़ैदख़ाने हैं। ऐसे क़ैदख़ानों से तो

विद्यार्थियों को शीघ्र ही छुड़ाने में पुण्य है। ऐसी पाठशाला का विद्यार्थी 'आवारा' उपनाम प्राप्त करे, तो ज़रा भी आश्चर्य नहीं। उल्टे ऐसी शाला का आवारा विद्यार्थी ही अच्छा और प्राणवान विद्यार्थी होता है। वह परतन्त्रता को—गुलामी को—ठुकराता है, और जहाँ अपनी स्वतन्त्रता के विकास का अवकाश नहीं मिलता, उस शाला से वह भाग निकलता है, और शिक्षकों को अपने स्वतन्त्रता-प्रिय स्वभाव का प्रत्यक्ष परिचय कराता है। शिक्षक और माँ बाप इस बात को समझ ही नहीं सकते; उलटे, वे विद्यार्थी पर ज़्यादा सख़्ती करने लगते हैं। नतीजा यह होता है कि ऐसा भय से त्रस्त विद्यार्थी सच्चे रास्ते को छोडकर बुरी राह भी पकड़ लेता है और फिर तो बुरी आदत जड़ ही जमा लेती है। ऐसी बुरी आदतों को सुधारने के लिये पाठशाला के सारे वातावरण को ही बदल डालना चाहिये। पाठशाला में विद्यार्थी को हर तरह की छूट देनी चाहिये। अलबत्ता, शाला के उचित नियमन को तो विद्यार्थी को मानना ही पड़ता है। ऐसे नियमन का पालन तो शिक्षक भी करता ही है। लेकिन यह ध्यान रहे, कि ऐसे नियमन का रुख स्वतन्त्रता का विरोधी न होना चाहिये। साथ ही, स्वच्छन्दता का पोषक भी न होना चाहिये।

इसके सिवा, शाला का बाहरी और भीतरी स्वरूप भी कभी कभी विद्यार्थी को बाहर भटकने को ललचाता है। यह बात अत्यन्त मामूली है, फिर भी बहुत आवश्यक है, इसलिये शिक्षक भाइयों की जानकारी के लिये इसे यहाँ देना उचित मालूम हुआ है।

(१) शाला का मकान स्वच्छ, खुला और ख़ूब हवा और प्रकाश-वाला होना चाहिये, जिससे विद्यार्थी के मन में यह ख़याल ही न उठने पावे कि उसे बन्द होकर रहना पडता है। अस्वच्छ, बन्द हवावाले और शोरोगुल से भरे हुए मकान में पवित्र आत्मावाले बालक की कोमल देह परेशान होती है, और उससे छूटने का प्रयत्न करती है।

(२) शाला में विद्यार्थी के लिए हर तरह की तमाम आवश्यक

सुविधायें होनी चाहियें। बालक विद्यार्थी अपनी कुदरती आवश्यकताओं का कोई प्रबन्ध नहीं देखकर भी शाला से भाग जाने की इच्छा करने लगता है।

(३) मदरसे के मकान और आँगन की रचना विद्यार्थी की तन्दु-रुस्ती के लिए बाधक न होनी चाहिये, नहीं तो उस हालत में भी विद्यार्थी का मन बगावत कर बैठता है, और फलतः मदरसे से हटकर अपने अनुकूल किसी जगह जाने की इच्छा करने लगता है।

(४) शिक्षा का कार्य नियमानुसार और विद्यार्थी के मानसिक झुकाव के अनुकूल होना चाहिए, जिससे विद्यार्थी शिक्षा से ही घबराकर भाग न जाय।

(५) विद्यार्थी पर काम का बोझ बिलकुल न होना चाहिये, अर्थात् घर से तैयार करके लाने का सबक इतना अधिक न होना चाहिये, कि विद्यार्थी को वह बोझ सा मालूम पड़े।

(६) शाला में ऐसा कोई न कोई साधन अवश्य होना चाहिये, जिससे विद्यार्थी के शरीर का विकास हो।

संक्षेप में, विद्यार्थी को ऐसा मालूम होना चाहिये कि शाला में जाना बेगार या बोझरूप नहीं, बल्कि आनन्द और विनोद रूप है।

शाला की भाँति घर का अशुद्ध और अनियन्त्रित वातावरण भी बालक विद्यार्थी में आवारापन पैदा करता है। कुछ माँ-बापों के रहन-सहन की आदतें ऐसी बेढंगी और मनमानी होती हैं, कि बालक को उन बुरी आदतों का शिकार बनने मे देर लगती ही नहीं। बड़ी उम्र के मनुष्यों में एक दोष अत्यन्त ही बुरा पाया जाता है। वे स्वयं किस प्रकार का बर्ताव करते हैं, इसकी ज़रा भी वे पर्वाह नहीं करते, और अपने छोटे बालकों को 'यह न करो' और 'वह न करो', ऐसे हुक्म दिया करते हैं। अपने दिये हुए हुक्म के विरुद्ध बर्ताव करनेवाले का सामनेवाले के मन पर कितना गहरा और बुरा असर हो सकता है? बालक ऐसे हुक्मों को न

केवल मानते ही नहीं हैं, बल्कि वे अपने ही बड़े-बूढ़ों के रहन-सहन की जिन आदतों को देखते हैं, उन्हींको अच्छी और सच्ची समझ लेते हैं। और, स्वयं भी उस प्रकार का, बल्कि उससे भी अधिक प्रमाण में वैसा, बर्ताव करते हैं। माँ बाप या गुरुजनों के सच्चे दबाव की वे अपने दिल में हँसी उड़ाते हैं, और अपने मन में यह सोचने लगते हैं, कि जिस काम के करने के अधिकारी बड़े बूढ़े लोग हैं, उसके हम भी अधिकारी ही हैं। और, उनका यह स्वतन्त्र विचार उचित ही होता है। नतीजा यह होता है, कि चाहे जितना रोकने पर भी बालक अपने ही माने हुए सच्चे, किन्तु वास्तव में बुरे रास्ते पर चलने लगते हैं। और, बड़े बूढ़े उनपर किसी प्रकार का अंकुश नहीं रखने पाते। घर ही से स्वच्छन्द बना हुआ बालक विद्यार्थी शाला में भी उसी मार्ग की तलाश में रहता है, और चाहे जैसे सच्चे और शुद्ध नियंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता।

ऐसे विद्यार्थी को ठिकाने लाना या सुधारना शिक्षक के लिये बहुत ही मुश्किल हो जाता है। चाहे जैसे कठोर और सीधे और अप्रत्यक्ष उपाय भी यथासंभव निष्फल ही होते हैं। एक ही मार्ग उत्तम और रामबाण सिद्ध हो सकता है। और वह यह कि शिक्षक अपने ही व्यवहार और सच्चरित्र से यह बता दे कि विद्यार्थी जिस राह जा रहा है, वह ग़लत और बुरी है। उत्तम मनुष्यत्व प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले आदमी को तो अपने विद्यार्थी-जीवन के आरम्भ से ही एक ख़ास तरह का शुद्ध और नियन्त्रित जीवन-व्यवहार शुरू करना चाहिये। शिक्षक के ऐसे आदर्श चरित्र को देखकर विद्यार्थी अपने व्यवहार और चारित्र्य के लिये शरमाने लगेगा और माँ बाप वग़ैरा गुरुजनों की बुरी आदतों की छाप धीरे-धीरे उसके हृदय से दूर होने लगेगी। माँ-बाप के प्रत्यक्ष व्यवहार की छाप को दूर करने के लिये अत्यन्त प्रतिभाशाली शिक्षक की आवश्यकता है, इसमें शक नहीं। परन्तु ऐसे प्रतिभाशाली और उन्नत चारित्र्य की प्राप्ति के लिये हरएक शिक्षक को प्रयत्न करना चाहिये।

कई बार विद्यार्थी बुरी सोहबत के कारण भी मनमौजी और आवारा बन जाता है। बलवान विद्यार्थी कमजोर पर, और बड़ी उम्र का विद्यार्थी छोटी उम्र के विद्यार्थी पर अपनी सत्ता जमा सकता है; और, जो बुरी आदत उसमें होती है, अपने से कमज़ोर या छोटों को उसका भागीदार बनाने की वह कोशिश करता है। डाँट-डाँट से, डराकर, या लालच देकर अथवा ऐसे ही किसी दूसरे उपाय से वह उन्हें अपने साथ ले भागता है, और, जिस काम को वह खुद पसन्द नहीं करता, वह काम साथवालों को भी नहीं करने देता। ऐसे विद्यार्थी शाला की किसी अनियमितता से, शिक्षक की ग़ैरहाज़िरी से या ऐसे ही किसी दूसरे मौक़े से लाभ उठाकर मदरसे से भाग जाते हैं, और चाहे जहाँ भागकर अपना समय बिताते हैं। हम ऊपर देख चुके हैं, कि जहाँ घर का सामान्य वातावरण शुद्ध, पवित्र और बालक की स्वाभाविक वृत्तियों का पोषक होता है, वहाँ ऐसी कोई बात नहीं हो पाती। लेकिन आजकल तो क्या शाला, और क्या घर, दोनों में इतनी अधिक गन्दगी घुस गई है, कि इधर ऐसे मनमौजी या आवारा विद्यार्थियों की संख्या अच्छी तादाद में दिखाई पड़ने लगी है। जब कि हक़ीक़त यह है, हम शिक्षकों को इसका विचार करना ही चाहिये। ऐसे विद्यार्थियों को प्रेम से, सहानुभूति से, या उनकी इच्छानुसार काम सौंप कर, अथवा अन्य ऐसे ही किसी उपाय द्वारा सुधारा जा सकता है। परन्तु यदि विद्यार्थी इतनी हद तक पहुँच गया हो, कि उसके बुरी आदतों से छूटने का कोई लक्षण ही नहीं दिखाई देता हो और उसके शाला में रहने से दूसरे विद्यार्थियों को अत्यन्त नुक़सान होता दिखाई पड़ता हो, तो उस हालत में नीचे लिखा मार्ग स्वीकार करना चाहिये।

स्वतंत्र शिक्षण के चुस्त हिमायती शिक्षण-शास्त्री भी यह कहते हैं कि बालक में जितना दुष्ट तत्त्व घुस गया हो, उसे दूर कर ही देना चाहिये। इसलिये ऐसे विद्यार्थी को दूसरे विद्यार्थी के संसर्ग से दूर तो रखना ही चाहिये, और यदि कोई दूसरा उपाय सूझ ही न पड़े, और शिक्षक भी हिम्मत हार बैठा

हो, तो ऐसी स्थिति में बहुतों के भले के ख़ातिर उसे शाला से हटा देने का मार्ग ही ग्रहण करना चाहिए। यह बात बहुत कड़ी है और यथासंभव तो शिक्षक को इसको आज़माइश करने का मौक़ा ही नहीं आवेगा। क्योंकि किसी भी विद्यार्थी में दुष्टता इस हद तक घर कर गई हो, कि शिक्षक को भी निराश हो जाना पड़े, ऐसा तो नहीं होता। फिर भी यह उपाय तो अख़ीरी उपाय है। और, यदि इसे आज़माने का मौक़ा आ ही पहुँचे तो इसकी आजमाइश कर लेनी चाहिये। (हमारे घर और हमारा समाज आज इतना अधिक पतित हो गया है, कि ऐसे विद्यार्थी भी मिल तो जाते ही हैं।)

पहले की भाँति यहाँ भी मैं शिक्षक के सम्बन्ध में एक-दो कड़ी बातें कह दूँ? नालायक़ शिक्षक भी विद्यार्थी को मनमौजी बनाने में कारण-भूत होता है। जो शिक्षक ख़राब हो, निर्दय हो, चिड़चिड़ा हो, न्याय-अन्याय का भेद न समझ सकता हो, विवेक अविवेक की शक्ति से रहित हो, गुण-ग्राहक न हो, अथवा शिक्षक के धन्धे के लिये अयोग्य हो, तो ऐसे शिक्षक के पास से भी विद्यार्थी का बालक मन भाग जाने का प्रयत्न करता है।

कक्षा में अपनी हालत बहुत बेढंगी मालूम होती हो, या अपना हँसी-मज़ाक हुआ करता हो, जिसमें अगुणग्राही शिक्षक भी हाथ बँटाया करता हो, या फिर शाला में विद्यार्थी को ऐसा लगा करता हो कि उसके स्वाभिमान की रक्षा नहीं हो रही है, तो भी वह वैसी शाला में न रहना ही पसन्द करता है, और यह उचित ही है।

"जिस तरह आप बड़े-बूढ़े स्वतन्त्र हैं, उसी तरह बालक भी स्वतन्त्र हैं। वे जो कुछ अच्छा करते हैं, सो सब अन्तः स्फूर्ति से ही करते हैं। वे स्वाधीन और सम्पूर्ण हैं। आपको जो पसन्द हो, वह अगर बालक को पसन्द न हो, उसमें उसकी रुचि न हो, तो वह काम उससे कभी न करवाइये।"

—जॉन लॉक

[४]

क्रोध

सच्चे या झूठे प्रकार से विद्यार्थी की भावना को दुखाने से, अथवा उसके प्रति अविनयपूर्ण व्यवहार करने से, या उसके अपने ही ईर्ष्यालु स्वभाव के कारण अथवा उसके मिथ्याभिमान पर चोट पहुँचने से, या ऐसे ही किसी दूसरे कारण से विद्यार्थी में क्रोध पैदा होने की सम्भावना रहती है। जब इस तरह विद्यार्थी को गुस्सा चढ़ा हो, तब उसके साथ व्यवहार करने में शिक्षक को ही सावधानी रखनी पड़ती है। गुस्से का असर उसके मन और शरीर, दोनों पर साफ़ दिखाई पड़ता है। उसके मुँह पर खून दौड़ जाता है। शरीर काँपने लगता है। और दिल की धड़कन बढ़ जाती है। उसके मन में बदला लेने की तीव्र इच्छा पैदा होती है। वह किसी उपाय से बदला लेने का विचार करने लगता है। विद्यार्थी की ऐसी दयाजनक स्थिति में शिक्षक को बहुत ही सावधानी के साथ काम करने की आवश्यकता है। ऐसे समय उसे दलीलों द्वारा समझाने की कोशिश करना, या सज़ा देना या सजा का डर बताना फ़िज़ूल है। इससे तो उल्टे उसके क्रोध में वृद्धि होती है। ऐसे समय शिक्षक को पहला काम यह करना चाहिए, कि विद्यार्थी किसी तरह शान्त हो। उत्तेजना का कारण जितना बड़ा और प्रबल होगा, उसे शान्त करने में भी उतना ही अधिक समय लगेगा। यदि ऐसे विद्यार्थी को शीघ्र ही शान्त करने की अत्यन्त आवश्यकता मालूम पड़े, तो जिस आदमी पर उसे गुस्सा चढ़ा है, (यदि उस आदमी ने ग़लती की हो, तो) उसे चाहिए कि वह क्रुद्ध विद्यार्थी के सामने अपनी ग़लती कुबूल करे और माफ़ी भी माँगे; लेकिन यदि ऐसा न हो सके, तो फिर समय तो अपना काम करेगा ही। समय बीतने पर उसका गुस्सा अवश्य ही कम हो जायगा।

विद्यार्थी के शान्त हो जाने पर मौक़ा देखकर उसे ऐसी प्रेरणा करनी चाहिए, कि वह इस प्रकार गुस्सा न होने की शक्ति अपने में पैदा करे। उसे समझाना चाहिए कि ऐसे गुस्से से क्या क्या नुक़सान पैदा होते हैं, किस प्रकार मनुष्य की शक्ति का दुरुपयोग होता है, बिना कारण समाज में दुश्मन पैदा होते हैं, बहुतों का विश्वास उठ जाता है, वग़ैरा। साथ ही, ऐसे अवसरों पर शिक्षक लायक विद्यार्थी को

१—चाहने और सहन करने के, प्रेम और सहिष्णुता के, तत्त्व को समझने का मार्ग बता सकता है।

२—क्रोध के अवसर पर मन को क़ाबू में रखने और खूब विचार करने की ताक़त प्राप्त करने का रास्ता बता सकता है।

३—उसे अपने दोषों का निरीक्षण करने का तरीक़ा बता सकता है।

४—विकारों के गुलाम न बनकर उनके मालिक बनने का रास्ता उसे दिखा सकता है। और समाज की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यक सद्गुण प्राप्त करने की राह सुझा सकता है।

"अच्छे विचार करने से मन अच्छा रक्खा जा सकता है। अच्छे विचार अच्छे कार्य करने से आते हैं।"

—गांधीजी

× × ×

"जिस तरह डॉक्टर अपने रोगी की चिकित्सा करता है, उसी तरह शिक्षक को विद्यार्थी के स्वभाव और परिस्थिति का अनुसरण करके विद्यार्थी के साथ काम करना चाहिए।"

—जॉन लॉक

× × ×

"जिस प्रकार मैले में हाथ डालने से हाथ मैला होता है, वैसे ही झूठ बोलने से मन मैला होता है। मैले हाथ की अपेक्षा मन का मैला होना बुरा है। मैला हाथ धोकर साफ़ किया जा सकता है। मन उतनी आसानी से साफ़ नहीं हो सकता।"

—गांधीजी

[५]

हठ

बालक के स्वभाव का यह एक विचित्र दोष है। शिक्षक बहुत आसानी से पहचान नहीं सकता, कि सचमुच यह हठ ही है, कि कुछ और है। विद्यार्थियों की कुछ आदतें ऐसी होती हैं, जिन्हें शिक्षक हठ मान लेता है। उदाहरणार्थ—

१ मूर्खता—अनुभवहीन और लापरवाह शिक्षक विद्यार्थी की मन्दता को बहुधा उसका हठ मान बैठता है। विद्यार्थी जहाँ अपनी बुद्धि से काम नहीं कर सकता, वहाँ शिक्षक उसे अक्सर हठीला मान लेता है। ऐसे संयोगों में शिक्षक को बहुत ही सावधानी रखनी चाहिए।

२. निर्बल शरीर—कुछ काम ऐसे होते हैं, जिन्हें अपनी शारीरिक कमज़ोरी के कारण विद्यार्थी कर ही नहीं सकता। इस कारण भी अक्सर विद्यार्थी सौंपा हुआ काम करने में आनाकानी करता है। परन्तु यह उसके स्वभाव का दोष नहीं है, यह तो उसके शारीरिक गठन का दोष है

३. भय—जब विद्यार्थी शिक्षक से डरता है, तब भी ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है, कि उस समय शिक्षक उसे हठीला समझ बैठता है। भय अत्यन्त बुरी वस्तु है। यह विद्यार्थी की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास करती है।

ऐसे सब मौकों पर विद्यार्थी को हठीला मानकर शिक्षक को कोई कार्रवाई नहीं करनी चाहिए। विद्यार्थी की यह दशा तो वास्तव में दया की ही पात्र है। ऐसे समय उसकी मदद करनी चाहिये, और उसके प्रति सहानुभूति रखनी चाहिये। अब हम यह देखें कि विद्यार्थी वास्तव में कब-कब हठ करता है—

१—जब शिक्षक विद्यार्थी के साथ बहुत ही कठोर और असभ्य व्यवहार करता है, तो विद्यार्थी हठीला बन जाता है। बहुतेरे शिक्षकों की ऐसी बुरी आदत होती है, कि वे बिना कारण विद्यार्थियों को ताने मारा करते हैं, या उन्हें चिढ़ाया करते हैं। कोई बात विद्यार्थी को याद न हो, समझ में न आती हो, या वह ऊधमी हो, तो ऐसे समय कुशिक्षक ऐसी भली बुरी बातें कहता है, कि जिनसे विद्यार्थी स्वभावतः चिढ़ जाता है। ऐसे समय अवश्य ही विद्यार्थी हठ करता है।

२—जिस विद्यार्थी में झूठा अभिमान और अपनी शक्ति के सम्बन्ध में झूठी धारणा पैदा हो जाती है, वह विद्यार्थी भी आसानी से हठीला बन सकता है। ऐसे मौक़ों पर विद्यार्थी के मन की कमज़ोरी ही उसके हठ का कारण होती है।

३—कुछ विद्यार्थी स्वभाव से ही दुर्गुणी होते हैं। वे ऐसा करने में आनन्द मानते हैं। ऐसे दुर्गुणी विद्यार्थियों में जब हठीलापन भी आ जाता है, तो हद हो जाती है। ऐसा विद्यार्थी एकदम अनीति का रास्ता पकड़ लेता है। कोई कारण न होने पर भी ऐसा विद्यार्थी सिर्फ़ बदमाशी के ख़ातिर ही हठ पकड़ लेता है।

अब, ऐसे हठीलेपन के मौक़ों पर क्या उपाय करना चाहिए, थोड़ा इसका भी विचार कर लें।

१—पहली बात के बारे में तो शिक्षक स्वयं दोष पात्र माना जायगा। शिक्षक को पहले तो अपने आपको ही सुधारना चाहिये। और, तभी विद्यार्थी को सुधारने का विचार करना चाहिये।

२—दूसरे प्रकार के विद्यार्थी के लिए एक ही उपाय है। किसी भी प्रकार से उसे यह समझा देना चाहिये कि उसका अभिमान निरर्थक है, और अपनी शक्ति-विषयक उसके ख़याल झूठे और अतिशयतापूर्ण हैं। ऐसे विद्यार्थियों के मित्रों द्वारा और समय-समय पर स्वयं भी थोड़ी चिंता और बुद्धि से काम लेकर शिक्षक यह कार्य कर सकता है।

३—तीसरे प्रकार के विद्यार्थियों को सुधारना अवश्य ही कठिन है। फिर भी यदि कुशल शिक्षक नीचे लिखे उपायों को आज़मा कर देखेंगे, तो ज़रूर सफलता मिलेगी।

१—शारीरिक दण्ड देने के लालच में न फँसें।

२—विद्यार्थी में अविश्वास न रक्खें।

३—बहुतेरे शिक्षक मनुष्य-स्वभाव की कमज़ोरी के अनुसार ऐसे विद्यार्थियों के प्रति व्यक्तिगत द्वेष रखने लगते हैं। इस बुराई से सावधान रहना चाहिये। जाने-अनजाने भी ऐसे मामलों में अपनी ओर से एक भी बाधा नहीं डालना चाहिये।

४—विद्यार्थी के साथ वाद-विवाद या बहस-मुबाहसा कभी न करना चाहिये।

५—उसके प्रति सदा प्रेम और सहानुभूति रखना चाहिये। प्रेम से ऐसे विद्यार्थी को भी सुधारा जा सकता है और सच्चे रास्ते पर लगाया जा सकता है।

"सीखने के विषयों की अपेक्षा सीखनेवाले का महत्त्व अधिक है। क्या सीखना और क्या न सीखना इसका निर्णय सीखनेवाले को ही करना चाहिए। सिखानेवाले को नहीं। बच्चों के रहनुमा बनने की अपेक्षा उनका अनुसरण करनेवाले बनो।"

—जॉन लॉक

× × × ×

—डॉ० मोन्टीसोरी

[६]

निर्दयता

कुछ परिस्थितियों के कारण निर्दयता कुछ विद्यार्थियों का स्वभाव सा बन जाती है। ऐसे विद्यार्थी की उम्र और अनुभव के मुकाबले उसकी विचार-शक्ति कम होती है, जिससे इस प्रकार के दुष्ट मनोविकार उसमें बढ़ते जाते हैं। बहुधा अज्ञान के कारण भी विद्यार्थी को, जब कि कक्षा का काम हो रहा हो, कक्षा में बैठे-बैठे मक्खियाँ मारते देखा गया है। इसमें अधिकतर उसका अज्ञान ही कारणभूत होता है। मक्खियाँ मारने में उसने निर्दयता का अनुभव ही नहीं किया था, क्योंकि उसे निर्दयता का ख़याल ही नहीं था। इसी प्रकार कक्षा में एक-दूसरे के साथ, किसी भी कारण से, थोड़ा सा भी विरोध होने पर, इस प्रकार के विद्यार्थी को ऐसे विरोध के फल-स्वरूप निर्दय बनने में देर नहीं लगती। कोई भी कारण मिला, (फिर वह सच्चा हो, या कल्पित हो) कि फ़ौरन ही उसका क्रोध जग उठता है, और क्रोध से निर्दयता तो तुरंत ही पैदा हो सकती है। मौक़ा पाकर ऐसा विद्यार्थी अपने विरोधी साथी के घूँसा, धक्का या तमाचा मारने में देर नहीं करता।

इस प्रकार निर्दयता का व्यवहार करनेवाला विद्यार्थी बड़ी अवस्था में अधिक निर्दय बनता है। शिक्षक का ऐसी बातों की उपेक्षा करना, कदापि सह्य नही हो सकता। शिक्षक को चाहिये कि वह मौक़ा देखकर ऐसे विद्यार्थियों को अपने दुष्ट मनोविकार दबाना सिखावे। बिला वजह मक्खी मारनेवाले विद्यार्थी को समझाना चाहिये, कि अपने हाथ पर आल-पीन की नोक के स्पर्श-मात्र से उसे कितना दुःख होता है। लेकिन यदि ऐसे मामलों में स्वयं शिक्षक ही विवेकशून्य हो, तो केवल उदाहरणों और

दृष्टान्तों से कोई लाभ नहीं हो सकता। हृदयशून्य दृष्टांतों से कुछ भी अर्थ-सिद्धि नहीं हो सकती। हृदयशून्य दृष्टान्त तो केवल कान की सतह तक पहुँच कर वापस लौट आते हैं। शिक्षक को स्वयं ही हृदय से ऐसी निर्दयता का तिरस्कार होना चाहिए।

अकसर घर के और शाला के कठोर और निर्दय नियम और कानून विद्यार्थी को निर्दय बना देते हैं। बहुतेरे माँ-बाप और शिक्षक बिना कारण अपने बच्चों को बुरा-भला कहते रहते हैं और पीटा भी करते हैं। फल यह होता है कि बालक विद्यार्थी खुद भी निर्दय बन जाता है। ऐसे घर या मदरसे में विद्यार्थी के निर्दय बनने की सैकड़े निन्नानबे सम्भावना रहती है। जिस शाला या घर में विद्यार्थी एक दूसरे से प्रेम नहीं कर सकते, बल्कि एक दूसरे को धिक्कारा करते हैं, और परस्पर निर्दयता का व्यवहार करते रहते हैं, उस शाला या घर में विद्यार्थी को उसके साथी या भाई के प्रति निर्दय होने में देर ही नहीं लगती। साधारण अवसरों पर भी स्वार्थ के कारण या ऐसे ही दूसरे क्षुद्र कारण से वह अपने भाई बहन या लँगोटियों के प्रति निर्दय और निर्घृण बन जाता है, उन्हें मारता है, और नुकसान भी पहुँचाता है। शिक्षकों को समझना चाहिये कि बार बार उलाहना देने या सजा करने से विद्यार्थी में निर्दयता सरीखा बड़ा दुर्गुण उत्पन्न हो जाता है, जिसका परिणाम उनके और विद्यार्थी के लिए सदा हानिकारक होता है। विद्यार्थी को निर्दय न बनने देने का एक अजीब राजमार्ग तो प्रेम का मार्ग है। विद्यार्थी को प्रेम का सबक सिखाने से, अर्थात् उसके साथ निर्मल और विशुद्ध प्रेम रखने से, वह दूसरों को भी चाहने लगता है। प्रेम एक ऐसी अद्भुत औषधि है कि वह मनुष्य को सदा दूसरों का भला करने को ही प्रेरित करती है। इतना ही नहीं, बल्कि दूसरों के लिए स्वयं कष्ट सहने की शक्ति भी देती है। फल यह होता है कि प्रेम करनेवाला और प्रेम पानेवाला दोनों विशुद्ध बनते हैं। शिक्षक अपने पथ को सरल बनानेवाले ऐसे जादुई प्रेम का निरादर क्यों करें?

निर्दय बनने का एक और भी कारण है। हरएक शाला में और घर में कोई न कोई खेल तो खेले ही जाते हैं। ऐसे खेलों पर यदि शिक्षक और माँ बाप आवश्यक ध्यान न दें, या खेलों के चुनाव में लापर्वाह रहें, तो विद्यार्थी में निर्दयता के बीज अनजाने ही जमने लगते हैं। ताश, चौपड़, गोटी, कौड़ी वग़ैरा खेल ऐसे हैं कि जिनकी वजह से दूसरे को अपना एक प्रकार का वैरी बना लेने में देर नहीं लगती। खेलों के चुनाव पर और जो खेल खेले जायँ, उन पर भली भाँति ध्यान रखना चाहिए। ऐसे खेल सिर्फ़ मनो विनोद के लिए या शरीर के विकास के लिए ही हों, उनमें लाग-डाँट या बदला लेने की भावना पैदा न हो, इस बात की खूब संभाल रखनी चाहिए। खेल तो आवश्यक हैं ही, परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनकी निगरानी भी खूब सावधानी और चुस्ती के साथ की जानी चाहिए। यदि इन दोनों बातों पर बराबर ध्यान दिया जाय, तो विद्यार्थी में इनके बुरे अंशों का प्रवेश न हो सके, और निर्दयता सरीखे दुर्गुण भी उसमें पैदा न हों।

मदरसों में अक़सर भिन्न भिन्न प्रकार के खेलों की होड़ बदी जाती है। मुकाबले कराये जाते हैं। ऐसी होड़ों और मुक़ाबलों से भी बहुधा निर्दयता पैदा होती है। इसलिए ऐसे खेलों का मुकाबला सर्वथा बन्द ही रखना चाहिये। पुराने जमाने में भिन्न-भिन्न प्राणियों की लड़ाई के खेलों की घोषणायें प्रकट होती थीं। फलस्वरूप मनुष्यों में दया का अंश कम होता जाता था, और अपने स्वार्थ के लिये दूसरे को मारने या उसे नुकसान पहुँचाने में मनुष्य थोड़ा भी हिचकिचाता नहीं था। सौभाग्य से ऐसे सार्वजनिक खेल तो अब बन्द हो गये हैं, लेकिन मदरसों में आज भी तरह-तरह के सार्वजनिक खेल और मुक़ाबलों के लिए जो अनेक कार्यक्रम बार-बार तैयार किये जाते हैं, वे भी अब बन्द होने चाहियें। विदेशी खेलों में क्रिकेट-मैच इसी प्रकार का है। प्रतिस्पर्धी पक्षों में इसकी वजह से, सूक्ष्म रूप में ही क्यों न हो, लेकिन वैर और बदले के बीज जम जाते हैं,

जिससे विद्यार्थी के भावी जीवन में निर्दयता-रूपी वृक्ष उग खड़े होते हैं। ऐसे दूसरे अनेक खेल और मुक़ाबलों के नाम गिनाये जा सकते हैं। संक्षेप में, जिन खेलों से वैर या बदले के विचार उत्पन्न हों, उन खेलों के मुक़ाबले या होड़ें शालाओं से एकदम बन्द हो जानी चाहियें।

विद्यार्थी में निर्दयता उत्पन्न होने के एक महत्त्वपूर्ण कारण का अब हम विचार करें। अक्सर शिक्षक स्वयं बहुत ही मिजाजवाला और चिड़-चिड़े स्वभाव का होता है। अधिक समय तक ऐसे शिक्षक के परिचय में रहनेवाला विद्यार्थी समय बीतने पर घमण्डी और चिड़चिड़ेपन के फल-स्वरूप निर्दय ही नहीं बनता है, बल्कि और भी दूसरे अनेक दुर्गुण सीखने लगता है। एक अंग्रेज ग्रन्थकर्त्ता का एक वाक्य यहाँ देता हूँ, जिससे मेरे इस कथन का भलीभाँति समर्थन होगा।

" A boy compelled for 5½ hours a day to see the countenance, and hear the voice of a fretful, unkind, hard and passionate man is placed in the school of vice. *

ऐसे चिड़चिड़े और अभिमानी शिक्षक के पास पढ़नेवाले विद्यार्थी यदि अनेक दुर्गुणों के शिकार हो जायँ, तो क्या आश्चर्य है? इसका सिर्फ़ एक ही उपाय है, कि ऐसे शिक्षक को समाज के हित के ख़ातिर शिक्षक का धन्धा छोड़ देना चाहिए।

---

* "जो बालक प्रतिदिन ५॥ घण्टे ऐसे शिक्षक के सहवास में रहने, उसकी सूरत देखने, और उसकी आवाज सुनने को विवश किया जाता है, जो स्वभाव से चिड़चिड़ा, निर्दय, कठोर और क्रोधी है, वह बालक ऐसी शाला में भर्ती किया गया है, जहाँ से वह सिवा दुर्गुणों के और कुछ सीख नहीं सकता।"

[७]

डरपोकपन

डरपोकपन को हम नामर्दगी भी कह सकते है। अधिकतर ऐसी नामर्दगी मन की कमज़ोरी से पैदा होती है, और उसमें अधमता का भी अंश घुस सकता है। नामर्द आदमी अपने प्रतिपक्षी से डरता है। अपने मन मे वह उसके सम्बन्ध में हलके से हलके विचार बाँधा करता है, जब कि बाहर वह उसकी खुशामद भी करता रहता है। नामर्द आदमी अपने मन की बात प्रकट कर ही नहीं सकता। वह मन में तो बुरे विचार किया करता है, और बाहर से, ज़बान से, भलाई की बातें करता रहता है। विद्यार्थी में यह दुष्ट दुर्गुण घुस न सके, इसके लिए शिक्षक को बहुत ही सावधान रहना चाहिए। विद्यार्थी में ऐसी नामर्दगी के पैठ जाने पर भविष्य में वह ग़ुलाम (knave) बनने की हद तक जा सकता है। ऐसी नामर्दगी के पैदा होने के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें से जिन थोड़े कारणों को शिक्षक मिटा सकते हैं, यहाँ हम उन्हींका विचार करेंगे।

डर एक ऐसी चीज़ है, जो बड़े आदमी के भी अच्छे-से अच्छे सद्गुणों को नष्ट करके उसमें खराब दुर्गुण पैदा कर देती है, तो फिर छोटे और बालक विद्यार्थी की तो बात ही क्या कही जाय? विद्यार्थी के मन पर डर का सदा के लिए बहुत ही अनिष्ट प्रभाव पड़ता है।

डर पैदा करने का बड़े से-बड़ा हथियार सजा है। इसीलिए शिक्षण-शास्त्री पुकार पुकार कर कह रहे हैं कि किसी भी समय सजा का उपयोग न करना चाहिए। सजा की तरह सजा करने का डर भी विद्यार्थी पर बहुत ही बुरा असर डालता है। बहुतरे शिक्षकों को अपने विद्यार्थियों को कमरे में बन्द कर रखने की अथवा एकान्त जगह में बहुत देर तक खड़े

बसने की बुरी बान होती है। कई शिक्षक ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला कर, या आँखें निकाल कर, या नाराज़ होकर विद्यार्थी को डराने का प्रयत्न करते हैं, और कुशिक्षक तो प्रत्यक्ष सज़ा भी देते हैं। इसके फलस्वरूप विद्यार्थी में एक ऐसे प्रकार का डर घुस जाता है, कि जिसकी वजह से उसमें कमज़ोरी पैदा हो सकती है। इसका उपाय बिलकुल आसान है, और एक ही है। सज़ा का या सज़ा के डर का शिक्षक को सदा सर्वदा त्याग ही करना चाहिये। दूसरा कोई उपाय नहीं है। यदि शिक्षक को विद्यार्थी को सिखाने अथवा सुधारने का दम्भ करने के लिए सजा या सज़ा का डर बताने के सिवा और कोई उपाय ही न सूझता हो, तो बेहतर है कि वैसा शिक्षक शिक्षक ही न रहे। ऐसा शिक्षक विद्यार्थी का हित करने के बदले निश्चय ही उसका अहित ही करता है।

यहाँ एक बात का उल्लेख किये बिना रहा नहीं जाता। बहुतेरे माता-पिता अपने बालकों से अपनी इच्छानुसार काम कराने के लिए उन्हें डराते हैं। 'शेर आया', 'हौआ आया', 'बऊ काट खायगा', 'बावाजी पकड़ ले जायगा', वग़ैरा बालकों को डराने के प्रयोग हैं। ऐसा बालक बड़ा होने पर भी डरपोक ही रहता है, और अनेक प्रकार के काल्पनिक डर से डरा ही करता है। इसमें वस्तुतः माँ बाप का अज्ञान ही कारण है। वे मानते हैं कि बालक को उसके भले के लिए ही डराया जाता है; लेकिन वे यह नहीं समझते, कि वे अपने ऐसे कार्य से बालक के हितशत्रु की ग़रज़ पूरी करते हैं। माता-पिता को भी यह बात भलीभाँति ध्यान में रखनी चाहिए, कि किसी भी कारण क्यों न हो, बच्चों को डराया तो कदापि न जाय।

केवल अज्ञान के कारण भी बहुधा नामर्दगी पैदा होती है। जिसका विरोध किया जा सकता है, जिसके मुकाबले में खड़ा हुआ जा सकता है, उसके बारे में भी विद्यार्थी डरपोक और नामर्द बनकर उसका विरोध नहीं करता। यदि उसे सच्ची बात बराबर समझा दी जाय, और उसका मुक़ाबला करने की हिम्मत उसमें जगा दी जाय, तो विद्यार्थी डरपोक बन

नामर्द बनने से बच जाय। समाज में जो-कुछ रूढ़ियाँ अथवा बुरे रिवाज घुस गये हैं, उन्हें उचित या सच्चे तौर पर मदरसों में विद्यार्थियों को समझा देना चाहिए। वहमों, झूठी रूढ़ियों वग़ैरा को यदि विद्यार्थी के मन से दूर कर दिया जाय, तो विद्यार्थी में सच्चा शौर्य प्रकट हो सकता है, और वह डरपोक या नामर्द नहीं बनता। समाज से अस्पृश्यता को दूर करने के जो भगीरथ प्रयत्न आजकल किये जा रहे हैं, कुछ बुद्धिमान और अस्पृश्यता को अन्तःकरण से झूठी और पापपूर्ण रूढ़ि समझनेवाले सज्जन भी उन प्रयत्नों में शामिल नहीं हो सकते, इसका कारण यही डरपोकपन और ऐसी ही नामर्दगी है। वे सत्य के ख़ातिर भी लोगों का सामना करने की हिम्मत नहीं बता सकते। वे समझते हैं कि अस्पृश्यता दूर होनी ही चाहिए। लेकिन तो भी उस दिशा में कुछ भी काम नहीं कर सकते। ऐसे समाज-भीरु वास्तव में नामर्द ही कहलाते हैं। शिक्षक को इस बात के लिए बराबर सावधान रहना चाहिए, कि कहीं विद्यार्थी में ऐसी नामर्दगी न घुस जाय। उपाय शिक्षक ही के हाथ में है; अपने ही प्रत्यक्ष जीवन द्वारा उसे विद्यार्थी को यह तत्त्व समझा देना चाहिए। सत्य-वस्तु का भान कराके यह बात उसके जीवन में उतार देनी चाहिए, कि सत्य के ख़ातिर चाहे जितनी आफ़तें उठानी पड़ें, और मौत का भी मुक़ाबला करना पड़े, तो उसे करना चाहिए। यदि विद्यार्थी निडर और सत्य-प्रिय बन जाय, तो फिर भविष्य में वह किसी भी बात से कभी डरेगा ही नहीं, और न नामर्द ही बनेगा।

कई दफ़ा विद्यार्थी शरीर से ही कमज़ोर होता है, और ऐसी शारीरिक कमज़ोरी के कारण वह डरपोक और नामर्द बनता पाया जाता है। अमुक काम करने से मेरी हानि होगी, या मेरे शरीर को नुक़सान पहुँचेगा; अपनी शारीरिक कमजोरी के कारण ही विद्यार्थी, इस तरह मन में डरता रहता है। एक तो विद्यार्थी शरीर से कमज़ोर होता है, दूसरे, शरीर की फ़िक्र करते रहने से हिम्मत और मर्दानगी उसका साथ छोड़ देती

है। हर किसी शिक्षक ने यह अनुभव किया होगा, कि जो विद्यार्थी शरीर से कमज़ोर होता है, वह साधारणतया डरपोक भी होता है। वह किसी काम को हिम्मत और बहादुरी के साथ नहीं कर सकता। ऐसे विद्यार्थी पर वस्तुतः दया ही करना चाहिये। शिक्षक को ऐसे विद्यार्थी के साथ प्रेम और सहानुभूति का बर्ताव करना चाहिये। उसके शरीर को सुधारने के मार्ग ढूँढ निकालने चाहियें। पहले तो इसका पता लगाना चाहिये कि उसका शरीर इतना अधिक अशक्त क्यों है। उसके माता पिता से जितनी बातें जानी जा सकें, जानकर तदनुसार इलाज करना चाहिए। और विद्यार्थी की डॉक्टरी जाँच भी करानी चाहिये। जिन मदरसों में आरोग्य शास्त्र का शास्त्रीय ज्ञान कराया जाता है, जिन मदरसों में विद्यार्थी के शरीर की मौक़े-ब-मौक़े परीक्षा करके, उसे सुधारने और उसका विकास करने के प्रयत्न किये जाते हैं, और जिन शालाओं में शारीरिक व्यायाम को महत्त्व का स्थान दिया जाता है, उन शालाओं में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की शारीरिक स्थिति अधिकांश अच्छी पाई जाती है। इसके लिए यह बहुत आवश्यक है, कि हरएक शाला विद्यार्थी के शरीर के विकास के साधन जुटा रक्खे, और उसके शरीर की बहुत ही फ़िक्र के साथ देख-रेख की जाय। शिक्षक व्यक्तिगत रूप से भी ऐसे मामलों में बहुत-कुछ कर सकता है। विद्यार्थी में जैसे-जैसे शारीरिक बल बढ़ता जायगा, वैसे वैसे उसमें हिम्मत और मर्दानगी का भी विकास होता जायगा।

"सोहबत का असर ज़रूर होता है", शिक्षा में भी यह कहावत भली-भाँति चरितार्थ हो सकती है। कुछ विद्यार्थियों की सोहबत ही ऐसी होती है, कि जिससे वे डरपोक और नामर्द बनते हैं। ऐसे मामलों में शिक्षक जितना काम कर सकता है, उतना ही माता पिता भी कर सकते हैं। फ़ुरसत के वक़्त विद्यार्थी क्या करता है, किसकी सोहबत में रहता है, कहाँ रहता है, आदि बातों पर शिक्षक आँख रख सकता है। जहाँ तक हो सके डरपोक और भयभीत साथियों से उसे अलग ही रखना चाहिये। इस काम

में शिक्षक को विद्यार्थी के माता पिता का सहयोग प्राप्त करना चाहिये। बहुतेरे विद्यार्थी सिर्फ़ सोहबत ही के कारण डरपोक या नामर्द बन जाते हैं। उनको वैसे न बनने देना भी शिक्षक का कर्तव्य है। शिक्षक ऐसे अनेक उपाय ढूँढ सकता है, जिनसे विद्यार्थी ऐसी सोहबत छोड़ कर अच्छी संगति में रहने लगे। अलबत्ता, ऐसे मामलों में विद्यार्थी की अपने शिक्षक में अटूट श्रद्धा और उसके प्रति पूरा प्रेम होना चाहिये। और, शिक्षक को यह विश्वास होना चाहिये कि वह स्वयं विद्यार्थी को ठीक रास्ते पर ले जा सकेगा। ऐसे विश्वासवाला शिक्षक अपने काम में अवश्य ही सफल होता है।

विद्यार्थी जिस परिवार से आता है, जिन माता पिता की वह सन्तान होता है, वे माता-पिता खुद ही अकसर डरपोक, नामर्द या भयभीत रहते हैं। जिसकी वजह से विद्यार्थी को ये कमज़ोरियाँ विरासत में मिलती हैं। ये, विरासत में प्राप्त कमज़ोरियाँ, कैसे दूर की जायँ, यह एक अत्यंत विकट सवाल है। जिस प्रकार विरासत में मिले हुए शारीरिक रोग को मिटाना बहुत कठिन और कष्टसाध्य है, उसी प्रकार बाप दादों से प्राप्त मानसिक रोगों को निर्मूल करना भी कठिन है। ऐसे समय शिक्षक का काम अधिक गंभीर और मुश्किल बन जाता है। शिक्षा शास्त्र में अब मानस-शास्त्र का भी काफ़ी दख़ल हो चुका है। और शिक्षा शास्त्री अपने काम में मानस-शास्त्र का ठीक उपयोग भी करने लगे हैं। इसकी वजह से अब ऐसे विरासत में प्राप्त मानसिक रोगों को भी मिटाने के उपाय हाथ आने लगे हैं। इसी कारण शिक्षक के लिए मानस-शास्त्र का अभ्यास भी आवश्यक है। मानस-शास्त्र का अभ्यासी शिक्षक ऐसे संयोगों में उचित मार्ग की खोज कर सकता है।

"चरित्र जबर्दस्ती से नहीं बनता। इसका सच्चा उपाय तो मनुष्य के विकास को—उसके शरीर, मन और आत्मा की प्रवृत्तियों को—स्वतन्त्रता का परवाना देने में है।"

—डॉ० मोन्टीसोरी

असत्य-सेवन

यह तो लगभग सब शिक्षक भाइयों का अनुभव होगा कि बहुतेरे विद्यार्थियों को झूठ बोलने की आदत होती है। इस आदत के जड़ पकड़ लेने के अनेक कारण हैं। उनमें से मुख्य कारणों, और सो भी शाला के शिक्षक के सामने झूठ बोलने के कारणों का हम यहाँ विचार करेंगे।

(१) डरपोकपन—जिस प्रकार डर अनेक दुर्गुणों का मूल कारण होता है, उसी प्रकार झूठ बोलने में भी वह एक कारण होता है। विद्यार्थी को किसी सज़ा या हानि का डर लगता है, जिससे वह झूठ बोलने को ललचाता है। जिस शाला में सजा, इनाम और लालच का स्थान है, उस शाला में विद्यार्थी को झूठ बोलने के बहुत ही मौक़े मिला करते हैं। विद्यार्थी इस डर से झूठ बोलने को ललचाता है, कि कहीं सच बात कह देने से शिक्षक मुझे दण्ड न दे दे, अथवा कहीं सच-सच कह देने से मेरे मार्क या गुण कट न जायँ, मेरा इनाम न रोक लिया जाय। सत्य के ख़ातिर ही सत्य पर कायम रहने की बुद्धि और बल उसमें नहीं होता, और इसी कारण वह झूठ बोलते हुए ज़रा भी नहीं हिचकिचाता। उलटे सत्य बोलने का ढोंग करके अपने सिर दोहरा पाप चढ़ा लेता है।

शिक्षा-शास्त्रियों की यह जो पुकार आजकल सुनाई पड़ती है, कि शालाओं से सजा को तिलांजलि दे दो, इनाम और लालच की पद्धति को दूर कर दो, सो इन्हीं कारणों से! यदि कोई शिक्षक यही माने बैठे हों, कि दण्ड देकर विद्यार्थी को झूठ बोलने से रोका जा सकता है, अथवा इनाम का लालच बता कर उसे सत्यप्रिय बनाया जा सकता है, तो वे बड़ी भूल करते हैं। इन उपायों से विद्यार्थी सत्य-प्रिय तो कभी नहीं बनता, लेकिन

उलटा अधिक झूठ बोलनेवाला, धोखा देनेवाला और ढोंगी बनता जाता है। यदि विद्यार्थी को सत्य-प्रिय बनाना हो, तो सबसे पहले उसे निर्भय बनाने की बहुत ज़रूरत है। जब वह अपने को हर प्रकार के भय से मुक्त समझता है, तो फिर उसके झूठ बोलने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता। इसी प्रकार उसे लालच से भी दूर रखना चाहिये। जहाँ उसे लाभ और हानि का लेखा नहीं लगाना पड़ता, वहाँ उसे सत्य ही बोलने की इच्छा होती है। शालाओं में झूठ बोलने के इन दोनों मुख्य कारणों का त्याग किया जाय, तो विद्यार्थी को सत्य की राह पर चलने का मौक़ा अवश्य मिले।

(२) कमजोरी—शारीरिक, मानसिक अथवा नैतिक कमज़ोरी के परिणाम-स्वरूप भी विद्यार्थी झूठ बोलने को ललचाता है।

जब विद्यार्थी यह देखता है कि उसे शारीरिक कष्ट सहना पड़ेगा, तब वह झूठ बोलने को ललचाता है। ऐसे शारीरिक दुःख में उक्त सज़ा का भी समावेश होता है। इसके अतिरिक्त किसी काम के करने में उसका शरीर सशक्त न हो, तब, अथवा उस काम के करने में शरीर को आवश्यकता से अधिक कष्ट पहुँचाने की ज़रूरत हो, तब, या उस काम के करने से शरीर के घायल होने की संभावना हो, तब, विद्यार्थी उस काम से बच जाना चाहता है, और तब उसे झूठ बोलने का मौक़ा मिलता है। ऐसे संयोगों में हरएक शिक्षक का धर्म यह है, कि उसे विद्यार्थी की तन्दुरुस्ती को भली-भाँति ध्यान में रखकर ही उसके साथ बरताव करना चाहिये। कोई भी काम सौंपने से पहले शिक्षक को विद्यार्थी की ताकत का अन्दाज़ लगा लेना चाहिये, और तभी विद्यार्थी को काम सौंपने न सौंपने का निर्णय करना चाहिये। अलावा इसके, बहुतेरे विद्यार्थियों के शरीर में आलस्य घुसा रहता है। ऐसे विद्यार्थी भी मेहनत से बचने के लिए झूठ बोलने से बाज़ नहीं आते। इस प्रकार के विद्यार्थी से काम लेते समय अत्यन्त सावधानी के साथ बरतने की आवश्यकता है। शिक्षक का यह धर्म है, कि वह ऐसे प्रयत्न करे, जिनसे विद्यार्थी झूठ बोलने को ललचाये ही नहीं, और

काम करने की तरफ झुके। इसीमें शिक्षक की सच्ची खूबी और विशेषता है। शिक्षक के प्रभाव से एक दफ़ा काम का रस चख लेने के बाद, बहुत करके विद्यार्थी के मन से आलस्य दूर होने लगेगा, और वह हमेशा काम में तल्लीन दिखाई देगा। ऐसे विद्यार्थी को फिर शारीरिक कमजोरी के कारण झूठ बोलने की कोई आवश्यकता न रह जायगी। जिस विद्यार्थी का मन कमज़ोर है, वास्तव में उसपर तो दया ही दिखलानी चाहिये। मानसिक दुर्बलता के कारण ऐसे विद्यार्थी बार-बार झूठ बोलनेवाले और कृत्रिम जीवन बिताने वाले पाये जाते हैं। ऐसे विद्यार्थियों की ओर तो हमारी सम्पूर्ण सहानुभूति रहनी चाहिये। उनकी मानसिक कमज़ोरी किस प्रकार दूर की जाय, इसका आधार तो उनके जीवन में घटनेवाले भिन्न भिन्न प्रसंगों पर निर्भर करता है। कुशल और सहानुभूतिवाला शिक्षक ऐसे हरएक अवसर से लाभ उठाकर विद्यार्थियों को सचाई की राह पर ले जा सकता है। मानसिक कमजोरी को दूर करने के उपाय बताये ही नहीं जा सकते। उनका आधार तो प्रत्यक्ष प्रसंग पर निर्भर करता है। जैसा मौक़ा होता है, वैसा उपाय करना पड़ता है। जब जैसी स्थिति उत्पन्न हो, तब तदनुकूल उपाय ढूँढ लेने चाहियें, और उदाहरणों और दलीलों द्वारा, हिम्मत और धीरज बंधा कर, अपने ही दृष्टान्त से, शिक्षक को उसे झूठ बोलने से रोकना चाहिये। इस प्रयोग को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है, कि शिक्षक में असाधारण हिम्मत और दृढ़ श्रद्धा हो। उसे कभी हार कर, निराश होकर, बैठ न जाना चाहिये। एक के बाद एक जब-जब मौक़ा लगे लगातार प्रयत्न करते ही रहना चाहिये। एक बार सफलता न मिले, तो दूसरी बार मिलेगी; दूसरी बार भी न मिले, तो तीसरी बार! इस प्रकार के प्रयत्न की परम्परा द्वारा विद्यार्थियों को सच्चे रास्ते ले जाने के लिये शिक्षक को सदा कटिबद्ध रहने की ज़रूरत है। जबतक विद्यार्थी की मानसिक दुर्बलता दूर न हो, और उसमें हिम्मत और हृदय का बल न जन्मे तबतक प्रयत्न करते ही रहना चाहिये।

विश्वास रखिये कि आख़िर विजय होगी ही। एक दिन ज़रूर ऐसा आवेगा जब अपना समस्त हृदय बल इकट्ठा करके विद्यार्थी सच बोलने को तैयार होगा। वह घड़ी शिक्षक के लिये धन्य घड़ी होगी! नैतिक दुर्बलता अधिकतर परिस्थिति और वातावरण का परिणाम होती है। अमुक परि-स्थिति में यदि मैं अमुक बात कहूँगा या अमुक काम करूँगा, तो ज़रूर लोग मेरी हँसी उड़ायेंगे, अथवा मेरी बेइज़्ज़ती होगी, आबरू चली जायगी; इस प्रकार के भय के वश बड़े-बड़े मनुष्य भी असत्य भाषण और असत्य व्यवहार करने को उतारू हो जाते हैं। तो फिर बालक विद्यार्थी की तो बात ही क्या? शालाओं में, अपने साथियों के सहवास में, और दूसरे विद्यार्थियों की हाजिरी में ऐसे कई मौक़े आते हैं, जब विद्यार्थी को सच बोलना कठिन प्रतीत होता है। अपनी प्रतिष्ठा के नष्ट होने का, मान-भंग का, या अपनी हँसी का उसे डर लगता है; और ऐसी स्थिति में वह झूठ बोलने को तैयार हो जाता है। ऐसे अवसरो पर शिक्षक को स्वयं ही आदर्श उपस्थित करना चाहिये। शाला के रात दिन के कार्यक्रम में शिक्षक के सामने ऐसे सैकड़ों अवसर आते हैं, जब उसकी आँखों के सामने यह झूठा डर खड़ा रहता है, कि मेरे सच बोलने या सचाई का व्यवहार करने से मेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी, या मुझे हानि पहुँचेगी। ऐसे मौक़ों पर चाहे जितना जोखिम उठा कर भी सच बोलने और सचाई का व्यवहार करने की हिम्मत का परिचय शिक्षक को देना चाहिये। ऐसा करने से उसकी मानहानि तो कभी होगी नहीं, उल्टे विद्यार्थियों की दृष्टि में वह वह बहुत ऊँचा उठ जायगा। और, उसे ऐसी विकट स्थिति में भी सचाई ही पर डटे रहने का पाठ सिखाने का पुण्य प्राप्त होगा। एक साधारण सा उदाहरण लीजिये। जो बात शिक्षक जानता न हो, उसके बारे में विद्यार्थियों के सामने अपना अज्ञान प्रकट करते हुए उसे ज़रा भी हिचकिचाना न चाहिये। इसी प्रकार जहाँ शिक्षक से कोई ी हो गई हो, वहाँ उस भूल को क़बूल करते हुए उसे शरमाना या

झिझकना न चाहिये। ऐसे अवसरों पर शिक्षक के सच बोलने और सचाई का व्यवहार करने से विद्यार्थियों को परिणाम में बहुत ही लाभ पहुँचता है। इससे विद्यार्थियों में अनेक गुना बल पैदा होता है, और वे नैतिक जीवन बिताने लगते हैं। विद्यार्थियों की नैतिक दुर्बलता दूर करने का इससे अच्छा और कोई मार्ग नहीं है, कि शिक्षक स्वयं अपने आचरण से आदर्श उपस्थित करें।

(३) शेख़ी—शेख़ी, मग़रूरी या मिथ्या अभिमान के कारण भी बहुधा विद्यार्थी झूठ बोला करता है। मैं कक्षा-भर में इतना होशियार विद्यार्थी हूँ, यदि इस बारे में मैं अपने अज्ञान का परिचय दूँगा या अपनी कमज़ोरी प्रकट होने दूँगा, तो मेरी इज़्ज़त चली जायगी, मेरा मान-भंग होगा, इन विचारों के कारण विद्यार्थी झूठ बोलता है; यही नहीं, बल्कि अक्सर इतना झूठ बोलता है, कि वह असभ्य हो जाता है। शालाओं में इनाम और होड़ या स्पर्धा का जो रिवाज चल पड़ा है, उसीके कारण विद्यार्थी में अपने लिए इस प्रकार का मिथ्या अभिमान पैदा हो जाता है। इन रिवाजों को छोड़ने के लिए इससे अधिक सबल कारण और क्या हो सकता है? जिस रिवाज के कारण विद्यार्थी झूठ बोलने और झूठा व्यवहार करने को ललचाये, उस रिवाज को शाला में किस प्रकार प्रश्रय दिया जा सकता है? ऐसा मिथ्याभिमान अक्सर उन विद्यार्थियों में दृढ़ हो जाता है, जो कक्षा में पहले नम्बर के माने जाते हैं, अपने को सर्वोपरि और सबसे श्रेष्ठ समझते हैं। उनका यह विश्वास हो जाता है कि वे भूल कर ही नहीं सकते। शिक्षक को ऐसी मान्यताओं को नष्ट करने के लिये जल्दी से जल्दी प्रयत्न करना चाहिये। अलावा इसके, कुछ शिक्षक अक्सर कुछ विद्यार्थियों को अनुचित महत्त्व दे देते हैं; इसके कारण भी विद्यार्थी मिथ्याभिमानी और अहंकारी बनता है। विद्यार्थी चाहे जितना होशियार हो, चालाक हो, या बुद्धिमान हो, लेकिन शिक्षक को यह बात अपने मन ही में रखनी चाहिये। शिक्षक को इस बात का विचार कर

लेना चाहिये, कि विद्यार्थी की होशियारी, उसकी चालाकी और उसकी बुद्धि का अच्छे से अच्छा उपयोग वह किस प्रकार कर सकता है। विद्यार्थी के इन गुणों से फ़ायदा उठा कर हमें उसे आगे बढ़ाना है, उसके सामने उसकी तारीफ़ करके उसे नीचे नहीं गिराना है। अमुक विद्यार्थी की अपेक्षा मैं अधिक होशियार हूँ, अमुक विद्यार्थी की अपेक्षा मैं अपने शिक्षक को अधिक प्यारा हूँ, किसी भी तरह शिक्षक का ऐसा व्यवहार नहीं होना चाहिये, कि विद्यार्थी के दिल में ऐसी झूठी धारणा पैदा हो जाय। इसकी वजह से विद्यार्थी गिरता है, ऊँचे नहीं चढ़ता।

(५) वैर वृत्ति—घर के और घर-बाहर के, कक्षा के और कक्षा के बाहर के अनेक कारणों से विद्यार्थी में वैर-वृत्ति के पैदा होने की सम्भावना रहती है। चाहे जितनी सावधानी रखने और चाहे जितने प्रयत्न करने पर भी छोटे-बड़े अनेक कारणों से विद्यार्थी में ऐसी वृत्ति पैदा हो जाती है। ऐसी वृत्ति के परिणाम-स्वरूप विद्यार्थी क्या-क्या बुरे काम नहीं कर डालेगा, कहा ही नहीं जा सकता। तो फिर झूठ बोलने का तो सवाल ही क्या रह जाता है? अपनी टाँग ऊपर रखने के लिये या दूसरे को किसी प्रकार विशेष का नुक़सान पहुँचाने के विचार से वह बड़ी आसानी के साथ असत्य की ओर खिंचा चला जाता है। वह सोचता है कि इतना सा झूठ बोलने से क्या हुआ जाता है? लेकिन इस विचार से कि उसके झूठ बोलने से फलाँ विद्यार्थी पर शिक्षक नाराज़ होंगे, या उसे सजा करेंगे, और आखिर कक्षा के तमाम विद्यार्थियों का और शिक्षक का ध्यान उसकी तरफ जायगा, वह झूठ बोलने को ललचाता है। इस प्रकार की ईर्ष्या-वृत्ति कम या ज़्यादा मात्रा में तमाम मदरसों में पाई जाती है। इसे धीरे धीरे किस प्रकार मिटाना, या रोकना, सो तो चतुर शिक्षक के हाथ की बात है। ऐसी वृत्तिवाले विद्यार्थी को देखने पर शिक्षक को चाहिये कि वह उसे ज़रा भी प्रोत्साहन न दे। उलटे उसके इस स्वभाव को दूर करने के उपाय शिक्षक को सोच लेने चाहियें। जब

कई बार और बारबार विद्यार्थी को यह विश्वास हो जायगा कि उसकी तरकीबें बेकार हो जाया करती हैं, तब वह खिसियाने लगेगा और उसे अपने स्वभाव पर शरम आने लगेगी। ऐसे स्वभाव को मिटाने के लिए शिक्षक कक्षा में और कक्षा के बाहर भी बहुत-कुछ कर सकता है। विद्यार्थियों में जो न्यायवृत्ति, वगैरा उत्तम गुण बीज-रूप में विद्यमान रहते हैं, उन्हें बार-बार जगाते रहना, और अपने कथन और व्यवहार द्वारा उन्हें सच्चे रास्ते पर ले जाना अच्छे और सहानुभूतिवाले शिक्षक का काम है। यदि सूत्र-रूप में कहूँ, तो यह कहूँगा कि विद्यार्थी को सत्य-प्रिय बनाने और असत्य मार्ग से उसे बचाने का अधिक भार शिक्षक के अपने कन्धे पर है। शिक्षक का उन्नत चरित्र और आदर्श जीवन, इस सम्बन्ध में विद्यार्थी के लिये सबसे ज़्यादा सहायक होता है।

"सच्चे अनुशासन के प्रथम प्रभात का उदय प्रवृत्ति में होता है।"

—डॉ० मोन्टीसोरी

× × × ×

"नियमन की वृत्ति हुक्म करने से पैदा नहीं होती, न झट झट प्रवृत्तियाँ कर डालने से ही पैदा होती है। नियमन विकास का परिणाम है। विकास क्रमशः और धीमे-धीमे होनेवाले क्रियाओं का फल है।"

—डॉ० मोन्टीसोरी

× × × ×

"हम नियमन पर बहुत जोर देते हैं, परन्तु जो चीज़ अन्दर से आनी चाहिए वह प्रार्थना से या हुक्म से या जोरोजुल्म से आ सकती है, प्राप्त की जा सकती है; हममें से प्रायः हर एक का यह ख्याल है, और यह बिलकुल गलत है।"

—डॉ० मोन्टीसोरी

आलस्य

आजकल की शाला के किसी भी शिक्षक से विद्यार्थियों के आलस्य के बारे मे पूछा जाय, तो वे यही जवाब देंगे कि अधिकांश विद्यार्थी आलसी ही मालूम पड़ते हैं। घर से सबक़ याद करके लाने में और कक्षा में काम करने में बार-बार आलस्य ही रुकावट डालता है। बहुतेरे विद्यार्थी घर से अपना सबक़ तैयार किये बिना ही आते हैं। इसकी तह में आलस्य ही प्रधान कारण होता है। कई विद्यार्थी आलस्य की वजह से ही कक्षा में अपना काम पूरा नहीं कर पाते। कक्षा में जमुहाई लेते और ऊँघते हुए विद्यार्थी तो हर किसी शिक्षक ने देखे ही होंगे। इसके सिवा, कुछ विद्यार्थी उस काम को भी पूरा नहीं कर सकते, जो उन्हें सौंपा जाता है। इसका कारण भी आलस्य ही है।

तो यह आलस्य क्या है? कहाँ से आता है? और, कैसे दूर किया जा सकता है? यहाँ संक्षेप में हम इसीका विचार करेंगे।

(१) शारीरिक स्वास्थ्य—कुछ विद्यार्थियों की तन्दुरुस्ती इतनी नाज़ुक होती है, कि वे अधिक परिश्रम नहीं कर सकते। थोड़ा काम करते ही थक जाते हैं, और काम आगे बढ़ने से रुक जाता है। ऐसे समय शिक्षक यह मान लेता है कि वह विद्यार्थी आलसी है। लेकिन नहीं, बात वैसी नहीं है। विद्यार्थी की नाज़ुक तन्दुरुस्ती उसे काम करने से रोकती है। शिक्षक को यह बात ठीक तरह समझ लेनी और देख लेनी चाहिए। विद्यार्थियों के स्वास्थ्य के प्रति एकदम लापर्वाह रहने की आदत के कारण,

। आजकल के शिक्षकों का एक दुःखद लक्षण है, यह बात आज एकदम दी गई है।

ऐसे नाजुक या नातन्दुरुस्त शरीरवाले विद्यार्थियों के लिए यदि उचित उपायों से काम लिया जाय, तो वे जल्दी ही अच्छी तरह काम करने लग जायँ। ऐसे विद्यार्थी की डॉक्टरी जाँच तो तत्काल ही होनी चाहिये, और डॉक्टर की सलाह के अनुसार उचित इलाज करने चाहियें। इसके अलावा, शारीरिक परिश्रम या ऐसे काम जिनसे शरीर को व्यायाम पहुँचे, विद्यार्थी से धीरे-धीरे कराने चाहियें। शिक्षक को ऐसी योजना तैयार करनी चाहिये, जिससे शरीर मजबूत बन सके। ऐसे विद्यार्थी का शरीर जैसे जैसे मजबूत बनेगा, वैसे वैसे उसमें स्फूर्ति आने लगेगी। फल यह होगा कि धीरे धीरे विद्यार्थी किसी भी प्रकार का शारीरिक अथवा मानसिक काम हाथ में लेकर पूरा कर सकेगा। कल्पित आलस्य के उसमें दर्शन न होंगे, और विद्यार्थी का कुल काम भी शिक्षक को संतोष देनेवाला और स्वयं विद्यार्थी को उत्साहित करनेवाला होगा।

(२) समय-पत्रक—हमारी आजकल की शालाओं के समय-पत्रक भी विद्यार्थी के आलस्य के कारण हो जाते हैं। इंग्लैण्ड सरीखे शीत-प्रधान देश के लोग यहाँ आकर हमें दोपहर को शाला चलाने की सूचना करते हैं, और उसीके अनुसार हमारी शालायें चलती हैं। ऐसी दशा में विद्यार्थियों के आलस्य का दोष भागी कौन हो सकता है? इंग्लैण्ड में तो इतनी अधिक सर्दी पड़ती है, कि सुबह नौ बजे के बाद भी बालक मुश्किल से शाला में जा सकते हैं। इधर यहाँ तो ऐसी स्थिति होती है, कि दोपहर को शाला में जा ही नहीं सकते। फिर भी शालायें ११ से ५ तक ही चलाई जाती हैं। शालाओं में राष्ट्रीयता का प्रवेश कराने की हम कोशिश करते हैं, और हमीं अभीतक शालाओं के समय-पत्रक में हेर फेर नहीं कर सके। सुबह का खुशनुमा वक्त पढ़ाई के लिए बिलकुल अनुकूल होता है, उसे छोड़कर हम ऐसी दोपहरी में मदरसे चलाते हैं, जब निश्चय ही आलस्य आता है।

जो ढेरों सबक विद्यार्थी शाला के लिए रट रट कर और सिर हिला-

हिलाकर तैयार करता है, वह तैयार कर लेने के बाद जब वह घड़ी में देखता है, तो समय पूरा हो चुका रहता है। थोड़ा समय रह जाने से झट-पट रूखा-सूखा खाया न खाया कि पुस्तकों का वस्ता लेकर मदरसे को दौड जाता है। खाने के बाद स्वभावतः आराम की आवश्यकता होती है। लेकिन उसे वह भी नहीं मिलता। मदरसे में भी फिर वही की वही दशा रहती है। शिक्षक ऐसे ढंग से सबक़ सुनने और भाषण करने का काम करते रहते हैं, कि विद्यार्थी सुनते सुनाते उकता जाता है। शिक्षक को विद्यार्थी की ज़रा भी चिन्ता नहीं रहती। ऐसी परिस्थिति में विद्यार्थी को मदरसे में, किसी भी समय आलस्य न आवे, तो और क्या हो ? एक तो देश की आबोहवा ही ऐसी है, कि दोपहर को आँखें कुछ भारी होने लगती है, और रहा-सहा आराम भी नहीं मिलता, थकान और उकताहट मालूम पडती है, काम में जरा भी मज़ा नहीं आता, (क्योंकि शाला में विद्यार्थी को केवल वही काम नहीं करना पड़ता, जिसमें उसे मजा आवे; वहाँ तो उसे शिक्षक की इच्छा के अनुसार चलना पड़ता है।) ऐसी परिस्थिति में आलस्य का आना बिलकुल स्वाभाविक है। वस्तु-स्थिति ऐसी होते हुए भी शिक्षक विद्यार्थियो को आलसी कह कर उलाहना देता है, और उन्हें सजा भी करता है !

हरएक शिक्षक को अपनी शाला के समय पत्रक का तत्त्व भूलना नहीं चाहिये। आबोहवा का जितना असर होना चाहिए, उतना सब विद्यार्थियों पर होता ही है।

इस प्रकार का आलस्य, आलस्य नहीं, देह की स्वाभाविक दशा है। उसे दूर करने का एक ही उपाय है, और वह है, आबोहवा के अनुकूल समय-पत्रक बनाना।

शिक्षक—विद्यार्थी में आलस्य पैदा करने में शिक्षक भी कारण-भूत होता है, यह पढ़कर इसे पढ़नेवाले शिक्षक बन्धु चौंकें नहीं ! जिस विद्यार्थी को हम पढ़ाने का दावा करते हैं, उस विद्यार्थी के मन की स्वाभा-

सिक रुचि, इच्छा-अनिच्छा, पसन्द-नापसन्द के बारे में हम कितना जानते हैं? कितना जानने की परवाह करते हैं! विद्यार्थी को किस ज्ञान की आवश्यकता है, उसकी आत्मा क्या माँग रही है, उसका विकास किस पथ की ओर हो रहा है, आदि कुछ भी जाने बिना हम अपनी ही इच्छानुसार उसे हाँका करते हैं। ऐसी दशा में यदि हमारा विद्यार्थी हमें कक्षा में आलसी दिखाई देता है, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? जिस समय जिस चीज़ की उसे आवश्यकता नहीं होती, उस वक्त वह चीज़ हम उसे ज़बर्दस्ती देने का प्रयत्न करते हैं, या उसे जिस चीज़ की ज़रूरत होती है, उसके सिवा कोई और ही चीज़ देने की मेहनत करते हैं। विद्यार्थी उसे ग्रहण कर ही नहीं सकता, उसे उसमें मज़ा या आनन्द ही नहीं आता। जिस वक़्त हिसाब करने की उसकी बिल्कुल इच्छा न हो, उस वक्त हिसाब करवाने से वह हिसाब नहीं, बल्कि अपने शौक का ही काम करेगा। यदि उसे चित्र निकालने का शौक़ होगा, तो पट्टी पर तस्वीरें खींचेगा, और पढ़ने की इच्छा होगी, तो पढ़ने बैठ जायगा। या कुछ भी न करने की वृत्ति होगी, तो बिना कुछ किये ही खाली बैठा रहेगा। ऐसे विद्यार्थी को हम आलसी कैसे कह सकते हैं! शिक्षक को इस बात का पता लगा लेना चाहिये कि ऐसा विद्यार्थी आलस क्यों करता है। साथ ही उसे ऐसा काम सौंपना चाहिये, जिसे वह पसन्द करता हो, जो उसकी रुचि के अनुकूल हो। ऐसा करने से वह न सिर्फ़ आलसी ही न रहेगा, बल्कि अधिक उद्यम करने लगेगा।

विद्यार्थी की मानसिक रुचि को जाने और सोचे बिना उसको बार-बार उसकी रुचि के विरुद्ध काम देने से, प्रथम जिस काम को वह नीरसता या अनिच्छा के कारण नहीं करता, बाद में धीमे-धीमे वही नीरसता या अनिच्छा वास्तविक आलस्य में बदल जाती है, और धीरे धीरे विद्यार्थी का काम करने का स्वभाव ही मरने लगता है; और फिर उचित पोषण के अभाव में आख़िरकार वह सचमुच ही आलसी बन जाता है। इस

प्रकार विद्यार्थी को आलसी बनाने से शिक्षक को कितना पाप लगता होगा, इस बात का समुचित विचार करके शिक्षक को कक्षा में विद्यार्थी से काम कराना चाहिए। ऐसे आलस्य को न घुसने देने में और घुस गया हो, तो उचित उपायों से उसे दूर करने में ही सच्चे शिक्षक की कुशलता और विजय है।

विद्यार्थियों के मन का परिचय कराते समय उसकी और भी अनेक कमजोरियो का दर्शन कराया जा सकता है, परन्तु यह लेख माला तो यहीं समाप्त हो जाती है। आशा है, कुशल शिक्षक इतना जान लेने के बाद और अधिक बातों की खोज करने और उपायों को ढूँढ़ने में अपने अनुभव और ज्ञान का ज़रूर उपयोग करेंगे।

हरभाई

"सामान्यतया बालकों में अनुशासन या नियमन स्वाभाविक है। कुमारों और युवकों में भी स्वाभाविक है। मनुष्य में यह स्वयं पैदा होता है। जनता का यह अत्यन्त बलवान् लक्षण है। मनुष्य के हृदय में यह वस्तु प्रेरणा के समान दृढ है। इस अजीब-से अनुशासन के गुण पर ही समाज जीवन का महल खड़ा है। सामाजिक जीवन की बुनियाद नियमन पर है। नियमन ने जो राज-मार्ग बना रक्खा है, उसी पर संस्कृति का रथ आगे बढता जाता है। संक्षेप में, समाज का भवन् नियमन की नींव पर उठा हुआ है।"

—डा० मोन्टीसोरी

× × ×

"जिस प्रकार उष काल में सूर्य भव्य दीखता है, और जिस तरह अपनी प्रथम पँखड़ियों को खोलनेवाला फूल भव्य दीखता है, उसी तरह समाज अथवा जनता का यह नाज़ुक और सुन्दर बाल्यकाल भी भव्य दिखाई पडता है, अतएव धर्म समझकर हमें इसका सम्मान करना चाहिए।"

-डॉ० मोन्टीसोरी

दूसरा खण्ड

[शिक्षक और शाला]

[१]

शिक्षालयों का आदर्श

बालकों की शिक्षा का विषय सरलतम होना चाहिए। लेकिन देखते क्या हैं कि वह कठिन से कठिन हो गया है, अथवा बना दिया गया है। अनुभव तो यह सिखाता है, कि बालक अपनी इच्छा से हो या अनिच्छा से, कुछ न-कुछ, अच्छी या बुरी शिक्षा पाते ही रहते हैं। कई पाठकों को यह बात कुछ अजीब सी मालूम होगी, किन्तु यदि हम इस बात का विचार कर लें कि बालक कौन है, शिक्षा क्या है, और बच्चों को शिक्षा या तालीम कौन दे सकता है, तो सम्भव है, ऊपर के वाक्य से हमें कोई आश्चर्य न हो। बालक से मतलब दस वर्ष से कम उम्र के या लगभग इसी उम्र के बालक बालिकाओं से है।

शिक्षा के मानी अक्षरज्ञान नहीं है। अक्षरज्ञान शिक्षा का एक साधन-मात्र है। शिक्षा या तालीम का मतलब तो यह है कि बालक यह जान ले कि वह अपने मन का और दूसरी सब इन्द्रियों का सदुपयोग कैसे कर सकता है। यानी बालक अपने हाथ पैर वग़ैरा कर्मेन्द्रियों और नाक-कान, वग़ैरा ज्ञानेन्द्रियों का सच्चा उपयोग करना जान जाय। जो बालक यह जानने लगता है कि हाथों से चोरी नहीं करनी चाहिये, मक्खियाँ नहीं मारनी चाहियें, अपने साथी को या छोटे भाई-बहनों को सताना या पीटना नहीं चाहिये, उसकी तालीम की शुरुआत हो चुकी है। कह सकते हैं, कि जो बालक अपना शरीर, अपने दाँत, जीभ, नाक, कान, आँख, सिर, नाखून वग़ैरा को साफ़ रखने की ज़रूरत समझता है, और उन्हे साफ़ रखता है, उसने तालीम लेना शुरू कर दिया है। जो बालक खाते पीते हठ नहीं करता, अकेले में या समाज के साथ बैठकर खाते पीते समय खाने पीने की तमाम क्रियायें नियमानुसार करता है, ठीक तरह बैठ सकता है, शुद्ध और अशुद्ध खूराक के भेद को समझकर शुद्ध खूराक ही चुनता है, अघोरी की तरह नहीं खाता, जो देखता है, वही माँगता नहीं; न मिलने पर भी शान्त रहता है, कहना चाहिए कि उसने शिक्षा में अच्छी

तरक्की की है। जिस बालक का उच्चारण शुद्ध है, जो अपने आसपास के प्रदेश का इतिहास-भूगोल, उन शब्दों के नाम न जानते हुए भी, हमें बता सकता है, जिसे देश की हस्ती का भान हो चुका है, उसने भी शिक्षा की अच्छी मंजिल तय की है। जो बालक सच-झूठ का, सारासार का भेद जान सकता है, और अच्छी और सच्ची बात को ही चुनता है, बुरी और झूठी बात का त्याग करता है, उसने भी तालीम के रास्ते अच्छी तरक्की की है। इस विवेचन को और अधिक बढ़ाकर लिखने की ज़रूरत नहीं है। शेष बातों की पूर्ति पाठक खुद कर सकते हैं। सिर्फ़ एक बात साफ़-साफ़ कह देनी चाहिये। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमें अक्षरज्ञान या लिपिज्ञान की कहीं भी आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिये। बालकों को वर्णमाला सिखाने में रोक रखना, उनके मन पर और उनकी दूसरी इंद्रियों पर बोझा लादने के समान है; उनकी आँखों और उनके हाथों का दुरुपयोग करना है। सच्ची तालीम पाया हुआ बालक समय आने पर अक्षरज्ञान सहज ही प्राप्त कर सकता है, और सो भी बड़ी दिलचस्पी के साथ। आज बालकों के लिए यही ज्ञान बोझ-सा बन जाता है, उनकी प्रगति के अच्छे से अच्छे समय का निरर्थक दुरुपयोग होता है, और आख़िर वे सुन्दर से सुन्दर अक्षर लिखने और खुशी के साथ पढ़ने के बदले मक्खियों की टाँगों-जैसे अक्षर लिखते हैं और जो पढ़ते हैं उसमें भी ग़लतियों की भरमार रहती है; पढ़ने का तरीक़ा ही ग़लत होता है। इसे शिक्षा कहना, शिक्षा पर अत्याचार करना है। अक्षरज्ञान से पहले बालक को प्राथमिक शिक्षा मिल जानी चाहिए। अगर ऐसा किया जाय तो यह ग़रीब देश अनेक पाठ्यपुस्तकों, वाचनमालाओं, बालोपयोगी पुस्तकों आदि के ख़र्च से बच जाय, और दूसरे अनर्थों से भी सुरक्षित रह सके। अगर बालोपयोगी पुस्तकों की किसी को ज़रूरत है, तो शिक्षकों को है। जिन बालकों का मैंने ज़िक्र किया है, उनको कदापि नहीं। अगर हम प्रवाह के साथ न बह रहे हों, तो हमें यह बात सूर्यप्रकाश की तरह स्पष्ट मालूम हो जानी चाहिये।

ऊपर जिस शिक्षा का ज़िक्र किया है, बालक उसे घर पर ही पा सकता है, और सो भी सिर्फ़ माता के द्वारा। वैसे, जैसी-तैसी शिक्षा तो बालक को माता से मिलती ही है। फिर भी अगर आज हमारे घर छिन्न-भिन्न हो गये हैं, माता-पिता बालकों के प्रति अपने कर्त्तव्यो को भूल गये हैं, तो इस हालत में बच्चों की तालीम जहाँ तक हो सके, ऐसे वायु मंडल में होनी चाहिए, जहाँ रह कर बालक कुटुम्ब में रहने का ही अनुभव कर सके। माता ही इस धर्म का पालन कर सकती है। अतएव बच्चो की शिक्षा का प्रबन्ध स्त्रियो के ही हाथ में होना चाहिए। स्त्री जिस प्रेम और धीरज से काम कर सकती है, पुरुष आज तक उसका परिचय नहीं दे सका है। अगर यह सब सच है, तो बाल-शिक्षा की समस्या को हल करते समय सहज ही हमारे सामने स्त्री-शिक्षा की समस्या आ खड़ी होती है। मुझे यह कहने में थोड़ा भी संकोच नही होता कि जबतक सच्ची बाल-शिक्षा देने योग्य मातायें तैयार नहीं होतीं, भले ही बालक सैकड़ों पाठशालाओं में क्यों न जायँ, वे शिक्षा से शून्य ही रहेगे।

अब मैं बाल-शिक्षा की रूप रेखा के सम्बन्ध में दो बातें कहूँगा। मान लीजिए कि एक माता-रूपिणी स्त्री की देख-रेख में पाँच बालक हैं। इन बालकों को न तो बोलने का तमीज है, न चलने का भान। नाक से जो बलगम बहता है, उसे हाथ से पोंछकर या तो पैरों पर डाल लेते हैं, या अपने कपड़ों पर लगा लेते हैं। आँखें कीच से भरी रहती है। कानों और नाखूनों में मैल भरा रहता है। बैठने को कहने पर पैर फैला कर बैठते हैं। जब बोलते है, तो मानो फूल झड़ते हैं। 'क्या' को 'चया' कहते हैं और 'मैं' के बदले 'हम' का उपयोग करते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण का उन्हे ज्ञान नही होता। बदन पर मैले कपड़े पहने रहते हैं। गुह्य इन्द्रिय खुली रहती है। उसे मला करते हैं। मना करने पर और ज़्यादा मलने लगते हैं। अगर जेब है, तो उसमें एक न एक गन्दी मिठाई पड़ी रहती है, जिसे वे समय-समय पर निकाल कर चबाते रहते हैं;

उसका कुछ भाग ज़मीन पर बिखेर देते हैं, और पहले से चीकट हाथों को अधिक चीकट बनाते जाते हैं। सिर पर टोपी होती है, जिसका निचला भाग कोयले-सा काला होता है, जिसे हाथ में लेते ही खूब बदबू आती है। इन पाँच बालकों की देख-रेख करनेवाली स्त्री के मन में माता की भावना जागे, तभी वह इन्हें शिक्षा दे सकती है। पहला सबक़ उन्हें राह पर लगाने का होगा। माँ उन्हें प्रेम से नहलायेगी। कई दिन उनके साथ हँसी खेल और बात चीत ही में बितायेगी। और कई तरह से, जैसे अब-तक माताओं ने किया है जैसे कौशल्या ने बालक राम के प्रति किया था, उसी तरह माता भी बालकों को अपने प्रेम-पाश में बाँधेगी और जैसा नचाना चाहेगी, बालकों को वैसा नाचना सिखा देगी। जबतक माता के पास यह गुण न होगा, वह बिछुड़े हुए बछड़े के पीछे आकुल-व्याकुल होकर चारों ओर चक्कर लगानेवाली गाय की तरह, इन पाँच बालकों के पीछे दौड़ा करेगी, चक्कर काटती रहेगी। जबतक ये बालक स्वेच्छा से साफ़ नहीं रहने लगते हैं, इनके दाँत, कान, हाथ, पैर वग़ैरा जैसे चाहियें वैसे नहीं रहते हैं, इनके गन्दे कपड़े जबतक साफ़ स्वच्छ नहीं रहने लगते हैं और जबतक 'क्या' का 'च्या' नहीं हो जाता है, तबतक माता अपने लिए आराम को हराम समझेगी। इतना क़ाबू पा जाने के बाद माता बालक को पहला सबक़ राम नाम का देगी। इस राम को कोई 'राम' कहेगा, कोई 'रहमान' कहेगा, मगर बात एक ही होगी। धर्म के बाद अर्थ तो होगा ही, इसलिए माता अङ्कगणित पढ़ाना शुरू करेगी। बच्चों को पहाड़े सिखावेगी, और जोड़, गुणा, बाक़ी, वग़ैरा हिसाब ज़बानी सिखावेगी। जिस जगह बालक रहते हैं उन्हें उस जगह का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिए, इसलिए माता उन्हें आसपास के नदी नाले, पर्वत-पहाड़ियाँ, मकान वग़ैरा बतावेगी, और साथ ही दिशा का ज्ञान भी ज़रूर करा देगी। बच्चों के लिए वह अपना ज्ञान भी बढ़ावेगी। अपने विषयों को भी सँवारेगी। इस कल्पना में इतिहास और भूगोल जुदा विषय नहीं

हो सकते । दोनों का ज्ञान कथा-कहानियों के जरिये ही दिया जाना चाहिये । माता इतने से ही सन्तुष्ट तो न रहे। हिन्दू माता बालक को संस्कृत की ध्वनि का बचपन ही से आदी बनावे; दूसरे शब्दों में, उसे ईश्वर स्तुति के श्लोक जबानी याद करा दे, और इस तरह बचपन से ही बालक की जीभ को शुद्ध उच्चारण का अभ्यास करवा दे । राष्ट्र प्रेमी माता बालक को हिन्दी तो ज़रूर ही सिखावे । इसके लिए वह बालक के साथ हिन्दी में बातचीत करे, हिन्दी की पुस्तकों में से कुछ पढ़कर उसे सुनावे और इस तरह बालक को द्वि भाषी या दो भाषा बोलनेवाला बनावे । इस उम्र में वह बालक को अक्षरज्ञान भले ही न दे, किन्तु उसके हाथ में पींछी तो अवश्य पकड़ावे । माता बालक से भूमिति की शक्लें बनवावे, सीधी, गोल, आड़ी-टेढ़ी सुन्दर रेखायें खिंचवावे । बालक के सामने वैसा वातारण खड़ा करे । माता उन बालकों को शिक्षित न माने, जो न फूल बना सकते हैं और न त्रिभुज तैयार कर सकते हैं । और, माता बालक को संगीत के ज्ञान से तो कभी शून्य रक्खे ही नहीं । माता के लिये यह असह्य होना चाहिये कि उसके बालक मीठे स्वर से, एक साथ राष्ट्रीय गीत या भजन वग़ैरा नहीं गा सकते । माता उन्हें तालबद्ध गाना सिखलावे, अधिक दूरदर्शी हो, तो उनके हाथों में एकतारा और झाँझ सौंपे । उन्हें डण्डों की ताल पर रासक्रीड़ा करना सिखलावे । उनके शरीर को सुगठित बनाने के लिए माता उन्हे कसरत करने, दौड़ने और कूदने को कहे । साथ ही बालकों को सेवा भाव की भी तालीम देती रहे । इसके लिए माता उनसे कपास चुनावे, फिर उन्हें ओटने, धुनकने और कातने को कहे और इस तरह हँसते खेलते रोज़ कम से कम आध घण्टा कतवा ले ।

इस शिक्षाक्रम के लिए आजकल की पाठ्यपुस्तकें एकदम निरुपयोगी है । प्रत्येक माता-पिता का प्रेम ही उनके लिए नई नई पुस्तकें बना देगा । क्योंकि हरएक गाँव का इतिहास भूगोल नया और जुदा होगा । अंकगणित के उदाहरण भी नये ही बनेंगे । भावना प्रधान माता प्रतिदिन तैयार होकर

बालकों को सिखावे और अपने रोज़नामचे में नई बातें, नये उदाहरण वग़ैरा लिखकर उन्हें बताती रहे।

इस पाठ्यक्रम को अधिक विस्तृत करने की जरूरत न होनी चाहिये। इसमें से हर तीन महीनों का पाठ्यक्रम तैयार किया जा सकता है। क्योंकि सब बालकों के लिए हम कोई एक ही पाठ्यक्रम नहीं बना सकते। समय-समय पर मिलनेवाले बालकों को देखकर ही उनका पाठ्यक्रम बनाया जा सकता है। बहुधा तो बालक जिन बुरी या ग़लत बातों को सीखकर आते हैं, उन्हें भुलाना पड़ता है। छः-सात वर्ष का बालक जैसे-तैसे अक्षर लिखना जानता हो, या उसे 'माँ' भू (पानी) पीऊँ' कहने की बुरी आदत पड़ गई हो, तो माता उसको भुला दे। जबतक उसका यह भ्रम दूर न हो कि बालक पुस्तकें पढ़कर ही ज्ञान प्राप्त करता है, तबतक वह आगे कदम न बढ़ावे। यह एक सहज और कल्पनागम्य बात है, कि जिसने जन्म-भर 'कखहरा' तक नहीं सीखा है, वह भी विद्वान् बन सकता है।

इस लेख में मैंने कहीं भी 'शिक्षिका' शब्द का उपयोग नहीं किया है। माता ही शिक्षिका है। जो माता का स्थान नहीं ले सकती उसे शिक्षिका बनना ही न चाहिये। बालक को यह पता भी न चलना चाहिये कि वह पढ़ रहा है, तालीम पा रहा है। जिस बालक के पीछे माँ की (सतर्क और स्नेहसनी) आँखें घूमती रहती हैं, वह बालक चौबीसों घण्टे तालीम पाता रहता है। पाठशाला में छ घण्टे बैठकर लौट आनेवाला बालक कुछ भी तालीम नहीं पाता। सम्भव है, आजकल के इस अस्तव्यस्त जीवन में स्त्री-शिक्षिकायें न मिलें। सम्भव है, इस समय बाल शिक्षा का काम पुरुषों के किये ही हो सकता हो। ऐसी दशा में भी पुरुष शिक्षक को माता का महान् पद प्राप्त करना पड़ेगा और आख़िरकार तो माता को ही तैयार होना पड़ेगा। लेकिन अगर मेरी कल्पना उचित हो, तो प्रत्येक माता, जिसके हृदय में प्रेम है, वत्सलता है, थोड़ी-सी सहायता पाकर इस काम के लिए तैयार हो सकती है। स्वयं तैयार होकर बालकों को भी तैयार कर सकती है।

[२]

शिक्षक के कर्त्तव्य

शिक्षक की वर्तमान दरिद्र स्थिति का जितना वर्णन किया जाय, कम ही है। न समाज में उसका कोई दर्जा है, न अपने में उसे विश्वास है। आज उसकी योग्यता को कोई स्वीकार नहीं करता और स्वयं शिक्षक भी यही मानता है कि मैं तो केवल शिक्षक हूँ। गाँव में एक मामूली दूकानदार का स्थान है। अपना धन्धा करनेवाले तेली और मोची का भी स्थान है, तीन कौडी का एक सिपाही 'दादा' कहा जाता है! महक्मे माल का एक मामूली-सा चपडासी भैया छदम्मीलाल या कालूरामजी कहलाता है। लेकिन मास्टर या पाण्डेजी तो मास्टर और पाण्डेजी ही रहते हैं। जनता के गुरु-पद के योग्य शिक्षक आज तो कम से कम वेतन पानेवालों की श्रेणी में है। वह बेचारा मास्टर बनकर बैठा है। पर आज तो अकेले मास्टर का ही नहीं, सारे शिक्षा विभाग का भी अख़ीरी नम्बर है, और शिक्षा-विभाग के अधिकारी का दर्जा भी अख़ीरी दर्जा है।

अब अपनी दीनता का रोना रोने का ज़माना नहीं रहा। अब तो हमें अपनी स्थिति का सच्चा ख़याल होने की आवश्यकता है। हमारा सच्चा काम उन उपायों को कार्य में परिणत करना है, जिनसे हमारा पद बढे, गौरव की वृद्धि हो। हम जागें और जल्दी से जल्दी चलना शुरू कर दें। अब हम एक क्षण की भी देर न करें। शिक्षक का ऊँचा पद प्राप्त करने के लिए हम पहले अपनी योग्यता बढ़ावें। आज समाज को डॉक्टर की आवश्यकता है, इसलिए समाज में डॉक्टर का स्थान है। आज समाज को वकील की आवश्यकता है, और यही कारण है कि वकील को लोग 'वकील साहब' कहते है। लेकिन शिक्षक ने आजतक अपनी आवश्यकता सिद्ध नहीं की। जिस प्रकार धनवान आदमी को वकील या सॉलीसिटर का घर खोजना

ही पड़ता है, रोगी को डॉक्टर के घर का पता रखना ही पड़ता है, उसी तरह बाल बच्चेवाले आदमी को शिक्षक के घर की तलाश करनी पड़े, अपने बच्चे के लिये उचित सलाह किससे पूछी जाय, इसका विचार करना पड़े, ऐसी स्थिति हमने अबतक पैदा ही नहीं की है। हम अभी तक बाल-शिक्षण के डॉक्टर नहीं बने, ज्ञाता नहीं बने, प्रयोग करनेवाले नहीं बने। हम स्वयं माँ बाप हैं, परन्तु बाल संगोपन के विषय में हम दूसरे माँ-बापों की अपेक्षा विशेष रूप से अधिक क्या जानते हैं? कौनसी विशेष योग्यता हममें है? ऐसी कौनसी विशेष कल या कुंजी हमारे पास है, जो औरों के पास नहीं है? और अगर हमारे पास कुछ भी नहीं है, तो समाज को हमारी ज़रूरत क्यों पड़े? ऐसी दशा में लोग यदि गाय-बकरी को चराने के लिए जिस तरह ग्वाला रख लिया करते हैं, उसी तरह बच्चों की साल सम्हाल के लिए एकाध शिक्षक रख लें और अपने काम में सरलता पैदा करलें, तो आश्चर्य ही क्या? ऐसी स्थिति में समाज में अपने गिरे हुए दर्जे के लिए हम गाँव को या शिक्षा विभाग को कैसे दोषी ठहरा सकते हैं? बहुतों का यह ख्याल है कि शिक्षकों की तनख्वाह कम होती है, इसलिए वे अपने पद के अनुसार भलेमानसों-जैसी पोशाक नहीं पहन सकते, खासा ठाठ बाट नहीं रख सकते, इसीलिए समाज में उनके दर्जे को कोई क़बूल नहीं करता। इसी भ्रम के कारण बहुतेरे शिक्षक अच्छे कपड़े पहनने में खूब सावधान रहते हैं। लेकिन यह उनकी भूल है। मैं तो शिक्षक भाइयों से यही कहूँगी, कि अगर हममें योग्यता होगी, तो लोग हमारे फटे कपड़ों और टूटी झोंपड़ियों का भी पता लगाते हुए हमारे पास आवेंगे। और, तब हमें १०) या १२) में खरीद लेने का शायद ही कोई विचार कर सकेगा। मोटर हाँकनेवाले शोफर को कोई आज १०) या १२) देने का विचार तक नहीं करता। एक कारीगर या सुनार भी रोज़ के डेढ़ या दो रुपये माँगता है। अरे, मामूली मज़दूर की मज़दूरी भी रोज़ की रुपया या बारह आने होने जा रही है। लेकिन शिक्षकों का

वेतन आज भी कई जगह १२) और १५) हैं। (कहीं-कहीं तो इससे भी कम है। ५), ७), हद ८)!) और आज भले यह ऐसा हो। वेतन से हम अपनी क़ीमत ठहराना नहीं चाहते। हमें हमारा महक्मा आज केवल पेट भरने जितना वेतन भी न देता हो, तो भी हम अभी उसका विरोध न करें। एक बार हम अपनी योग्यता बढा लें, अपनी उपासना को शुद्ध और तेजस्वी बना लें, अपनी उपयोगिता को सिद्ध करके बता दें और समाज और राज्य को यह जँचा दें, कि हमारे बिना उनका काम ही नहीं चल सकता—हम अनिवार्य हैं। और फिर देखें कि हम कहाँ है!

लोगों के दयाभाव को उत्तेजित करने लिए हम अपनी दरिद्रता के चित्र उनके सामने उपस्थित न करें। हमें उनकी दया पर ही अपना निर्वाह नहीं करना है। जो वर्ग समाज के लिए निरुपयोगी हो, वही समाज की दया पर जीये। हम लूलों-लँगड़ों या आलसी भिखमंगों की तरह लोगो से दया की भीख न माँगें। हमें तो अपनी योग्यता बढ़ानी है, और जब योग्यता प्राप्त कर लेंगे तो हमारी ग़रीबी भी हमारे धन्धे का गौरव बढ़ानेवाली होगी।

इसका यह आशय नहीं कि शिक्षक को थोड़े वेतन पर ही सन्तोष कर लेना चाहिये। उसके सम्मुख मैं ग़रीबी का तत्त्वज्ञान नहीं रखना चाहती। मैं सिर्फ़ यही चाहती हूँ कि शिक्षक अपने स्वाभिमान की रक्षा करें। दीन बनकर, दीनभाव से अर्ज़ियाँ भेजकर अपने हाथों अपना असम्मान न करावें। क्योंकि उनकी ऐसी अर्जियों पर कोई ध्यान नहीं देता। अगर दिया भी तो दयाभाव से, दान देने की वृत्ति से, कुछ थोड़ा-बहुत वेतन बढा दिया जाता है। शिक्षक के उच्च गौरव के लिए यह बहुत बुरी वस्तु है, और उसके स्वाभिमान को चोट पहुँचानेवाली है। इसीलिए मैं शिक्षकों से कहती हूँ कि वे अपनी योग्यता और उपयोगिता बढ़ावें। यही राज-मार्ग है। इसीको अपनाने से सब उनका महत्त्व स्वीकार करने लगेंगे।

योग्यता-प्राप्ति के कुछ उपायों का यहाँ विचार कर लिया जाय। पहला

काम तो हमें यही करना है कि हम लोगों को यह बता दें कि हमारे पास लोकोपयोगी शास्त्र है, विज्ञान है, जिसके बिना उनका काम चल ही नहीं सकता। अबतक हमने शिक्षा-शास्त्र का बहुत-कुछ अभ्यास करने का दावा किया है, लेकिन उसमें हम निरे शिक्षक ही रहे हैं, पूरी सफलता प्राप्त नहीं कर पाये। हमारा शास्त्र क्या है? बालकों का मनोविज्ञान है; और बालकों का मनोविज्ञान, यानी सारे मनुष्य-जीवन का आधारभूत विज्ञान। हमारा शास्त्र सीधा जीवन को स्पर्श करनेवाला शास्त्र है। पर समाज को हमने अबतक इसकी प्रतीति नहीं कराई है। इसी कारण समाज ने हमारे शास्त्र में दिलचस्पी नहीं ली और न उसकी उपयोगिता को ही पहचाना।

ऐसी दशा में यदि समाज का यह खयाल रहा हो, कि शिक्षण शास्त्र क्या है? होगा, कुछ बेकार पोथों का ढेर; तो इसमें आश्चर्य ही क्या? लेकिन जब हम बाल-मानस शास्त्र की दृष्टि से मनुष्य के बहुतेरे व्यवहारों की आलोचना करने लगेंगे, बाल-संगोपन के कार्य में माँ बापों के सच्चे मार्ग-दर्शक बन जायँगे, समाज की सामाजिक रचना की परीक्षा करने लगेंगे, ऐसी परिस्थिति अपने शास्त्र के बल से पैदा कर देंगे, कि राजनीतिज्ञों को भी हमारी सलाह लेनी पड़े, तभी मैं कहती हूँ कि हम अपनी यह योग्यता सिद्ध करेंगे, और तभी समाज हमारे गौरवयुक्त पद को स्वीकार करेगा। तभी आवश्यकता पड़ने पर लक्ष्मी हमारे पास दौड़ी आयेगी। लेकिन जबतक हम लड़कों को पहाड़े-पट्टी सिखानेवाले और उनसे परी-क्षायें पास करानेवाले ही बने रहेंगे, तबतक हमारी स्थिति में ज़रा भी सुधार नहीं हो सकेगा।

हममें आज जो दीनता है, जो निर्माल्यता या निःसत्त्वता है, आत्म-विश्वास की जो कमी है, हमारी आवाज़ में जो कमज़ोरी है, जिन सबके प्रत्याघातस्वरूप समाज हमारी ओर से उदासीन रहता है, राज्य हमारी पर्वा नहीं करता, शिक्षा-विभाग भी हमसे ज़बर्दस्ती काम कराने की नीति

बरतता है, इन सब बातों का उसी समय अन्त हो जायगा, जब हम अपनी योग्यता हर तरह बढ़ा लेंगे।

अपनी स्थिति सुधारने का दूसरा उपाय यह है कि हम अपनी उपयोगिता बढ़ावें। शिक्षक को समाज और राष्ट्र के निर्माण में स्थल और काल के अनुसार सदा महत्त्वपूर्ण सहायता पहुँचाने में कभी चूकना न चाहिये। हम अपना ही उदाहरण लें। आज कई वर्षों से हमारे देश में घोर मन्थन चल रहा है। इस मन्थन में शिक्षक की हैसियत से शिक्षकों ने क्या सहायता पहुँचाई है? कुछ भी नहीं। व्यापारी किसान और मज़दूर तक इस महामन्थन में देश का उत्तम रीति से हाथ बँटा रहा है। जब कि शिक्षक ने, जिसके हाथ में प्रजा का, राष्ट्र का, सारा बचपन था, प्रजा की उन्नति में क्या मदद की? उसने अपनी दासवृत्ति के बीज बालकों में बोये, और सारी प्रजा को गुलाम, डरपोक, स्वाभिमान शून्य, अप्रामाणिक और क्षुद्रबुद्धि बना डाला। यदि शिक्षकवर्ग पर यह अभियोग लगाया जाय, और स्वराज्य की सरकार उसे इन सब गुनाहों के लिए दोषी ठहरा कर सज़ा करे, तो क्या हम यह कह भी सकेंगे कि उसका ऐसा करना अनुचित है? शिक्षकवर्ग की सफ़ाई में कुछ भी कहने योग्य सामग्री हमारे पास है क्या? क्या हमने आँखें बताकर, गालियाँ देकर और मौक़े-ब मौक़े मनमानी सजा करके बच्चो को डरपोक नहीं बनाया? क्या हमने अपने अफ़सर के प्रति अपनी दासवृत्ति का परिचय देकर और उनके शाला में आने पर उनकी भली-बुरी हर तरह की खुशामद करके बालकों में गुलामी के बीज नहीं बोये? अगर इस समय हमारी मनोदशा सच्ची और कड़ी आत्मपरीक्षा की हुई, तो हम अवश्य क़बूल करेंगे कि एक वर्ग-विशेष की हैसियत से हम इन सब अपराधों के दोषी है। और कड़ी आत्मपरीक्षा ही उन्नति की पहली सीढ़ी है।

दूसरी सीढ़ी उन्नति की यह है कि अबतक हमने जो जो भूलें की हैं, उन्हें सुधार कर आगे बढ़ें। आज भी हम अपने को सज़ा और इनाम, अर्थात्

भय और लालच की पद्धति से मुक्त नहीं कर सकते। इसका यही मतलब है कि हमने बालकों के सम्मुख उनकी सच्ची दिलचस्पी के विषयों को इस ढँग से रखना सीखा ही नहीं, कि वे उन्हें आसानी से पचा सकें। एक बार जब हम इस सजा और इनाम और स्पर्धा को निकाल बाहर करेंगे, और सारे वातावरण को इन बाहरी उत्तेजकों से अछूता रख कर शुद्ध कर डालेंगे, तो 'किस तरह सिखाने' की कुञ्जी हमें सहज ही मिल जायगी। वर्तमान शिक्षण की नई प्रणाली के जन्म का यही मूल कारण है। जब कृत्रिम दबाव से पढ़ाना बन्द किया गया तब पता चला कि हरएक बालक एक एक स्वतन्त्र व्यक्ति है। उसके अपने निजी और स्वतन्त्र रस के विषय हैं। उसे इन विषयों में प्रगति करने के लिये निजी तौरसे कमोबेश समय की ज़रूरत है। व्यक्तिश' हरएक की प्राकृतिक शक्तियाँ भिन्न हैं, और बालक में जो आन्तरिक प्रकृत शक्तियाँ हैं, उसे उन शक्तियों के विकास का अवसर देना ही सच्ची शिक्षा है। वह सच्ची शिक्षा नहीं, कि जो विषय उसे पसन्द न हो, जिसमें उसे मजा न आता हो, वही विषय युक्ति-प्रयुक्ति से थोड़े समय के लिए उसे याद करा दिया जाय एक साँचे में से, एक ही चौखट के अन्दर से, सब बालकों को, समानरूप से, बराबर समय में, निकालते रहना स्पष्ट ही बड़ी हास्यास्पद रीति है, और इसके कारण शिक्षकों को कितना परेशान होना पड़ा है और छात्रों पर कैसी आफ़त आ पड़ती है, सो अलग से कहने की ज़रूरत नहीं। अतएव इस बुराई से बचने के लिए और अपनी स्थिति में आवश्यक सुधार करने के लिए सबसे पहला काम जो मैं हरएक शिक्षक भाई और बहन से करने को कहूँगी, वह यह है कि वे सज़ा, इनाम और स्पर्धा की बेड़ियों से अपने-आपको फ़ौरन से पेश्तर छुड़ा लें।

ऊपर मैं शिक्षक की हैसियत से अपनी उपयोगिता की बात कह रही थी। यदि शिक्षक इस तरह अपनी शिक्षा प्रणाली में सुधार करके, बालकों की तेजस्विता का हनन करनेवाली, उन्हें डरपोक और गुलाम बनानेवाली

पुरानी शिक्षण-प्रणाली को छोड़ दें, तो समाज को आज जिसकी ज़रूरत है, उसी दिशा में बालकों को ले जाने में हम ज़रूर उपयोगी सिद्ध होंगे। यदि शिक्षक के अधीन रहकर बालक तेजस्वी, स्वाभिमानी, स्वतंत्रता-प्रिय, स्वाधीन और बुद्धिशाली बनें, तो समाज अवश्य ही शिक्षक की उपयोगिता को स्वीकार करेगा। आज हमारे देश की यह स्थिति है कि हरएक आदमी को, स्त्री और पुरुष को, अपना निजी काम करने के सिवा कुछ काम सेवा के रूप में भी अवश्य करना चाहिये। तभी हम अपने कर्त्तव्यों का भलीभाँति पालन कर सकेंगे। शिक्षक की हैसियत से हम ऐसी कौन-सी सेवा का काम कर सकते हैं, यह तो हममें से हरएक को सोच लेने की बात है। मेरे विचार में यदि आजकल के हिन्दुस्थानी शिक्षक देश की महासागर-सी विशाल निरक्षरता को, देश के घोर अज्ञान को, दूर करने का बीड़ा उठा लें, तो राष्ट्र सदा के लिए उनका ऋणी रहेगा। यह काम केवल हमारे ही क्षेत्र का है; हम लोगों के अभाव में इसका पूर्ण होना यदि असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है। यदि ऐसा एक भी महान् कार्य हम करके दिखादेंगे, तो हमें कभी किसी के सामने पल्ला पसारने की या मुँहजोई करने की ज़रूरत न पड़ेगी। फिर हमें कभी ऐसी दीनतापूर्ण अर्जियाँ न भेजनी पड़ेंगी कि हमारे दर्जे की उच्चता कबूल करिये, हमें ऊँची कुर्सी दीजिये, हमारा वेतन बढ़ाइये, हमें पेटभर खाने को दीजिये! अपने फ़ुरसत के समय को गाँव की फालतू बातों की चर्चा करने में, या दलबन्दी में, या अपने महक्मे की अनेक छोटी-मोटी खबरें इकट्ठा करने में बिताने की अपेक्षा यदि इस समय का हम सदुपयोग करना शुरू कर दें और निरक्षरों को पढ़ाने-लिखाने का भगीरथ प्रयत्न प्रारम्भ कर दें तो सारा गाँव हमें अवश्य ही अपने हृद्गत आशीर्वादों से नहला देगा।

संक्षेप में, आज सबसे पहले तो शिक्षक को पक्का निश्चय करके, दृढ़ प्रयत्नपूर्वक अपनी उन्नति और अपनी प्रगति की ओर क़दम बढ़ा देना चाहिये। इसीसे उसकी स्थिति सुधरेगी। इसके लिए वह अपना अभ्यास

बढ़ावे; अपने तंग दायरे से बाहर निकलकर विशाल दृष्टि प्राप्त करे; नये विज्ञान, नये मानसशास्त्र, नये शिक्षणशास्त्र वगैरा विषयों का अध्ययन करके अपनी योग्यता बढ़ावे। लेकिन साथ ही यह याद रक्खे कि उसके सच्चे अभ्यास का विषय तो वे बालक हैं, जो रात-दिन उसके पास आते हैं। शिक्षक बालकों से अपार प्रेम करना सीखे। वह बालकों को डरानेवाला बाघ, सिपाही या राक्षस न बने, न उन्हें कुचल डालनेवाला एक क्रूर प्राणी ही बने; बल्कि उनका परम मित्र बने। तभी वह बालकों का अभ्यास कर सकेगा। जब अपने को बालक का गुरु न समझ कर वह बालक को अपना गुरु मानेगा और अनन्य प्रेमपूर्वक उसकी सेवा करेगा, तभी उसे सच्चे बाल-मानस का दर्शन करने में सफलता मिलेगी। जब बालक ही उसके अध्ययन और चिन्तन का विषय बन जायगा, तब इसमें शक नहीं कि बाल-मानस की गूढ बातें भी उसके लिए प्रकट बन जायँगी।

शाला के पाँच घण्टों की परिस्थिति में जकड़े हुए, पाठ्यक्रम और समय-पत्रक के बन्धन से बँधे हुए, बालक का सच्चा परिचय शिक्षक नहीं पा सकता। शाला के बाहर, बालकों के घर पर, गली में, नदी की रेत में, तालाब के किनारे, मन्दिर के मैदान में, वानर-सेना के जुलूस में, अखाड़ों की तालीम में, मित्रों की मण्डली में और ऐसे ही अनेक स्थानों में, अनेक प्रवृत्तियों में, बालकों की सच्ची शक्ति के दर्शन होते हैं। अतएव अपनी उपासना को अधिक तलस्पर्शी बनाने के लिए शिक्षक को बालकों के समग्र जीवन के साथ परिचित होना चाहिये।

शिक्षक स्वयं शाला का राजा है। लेकिन वह यह न मान बैठे कि बालकों की पढ़ाई शाला में ही समाप्त हो जाती है। आज तो यह कहना पड़ता है कि बालक सच्ची शिक्षा घर और मदरसे के बाहर ही पा रहे हैं। और यदि कभी शालायें और घर आदर्श शालायें और आदर्श घर बन जायँ, तो भी बालकों की शिक्षा का एक बड़ा प्रदेश इन दोनों स्थानों के बाहर भी है, और रहेगा, इसमें शक नहीं। आज तो बालक बाहर ही

कुछ सीख रहे हैं। शाला में और घर में तो कुछ न पढ़ने में, या न पढने-योग्य पढ़ने में उनका समय बीत जाता है। अपने इस कथन में मुझे ज़रा भी अतिशयोक्ति का भय नहीं है। यदि शिक्षकों को बालकों के साथ रहना हो, तो उन्हें उनकी इस बाह्य प्रवृत्ति को समझना चाहिये, उसका महत्त्व आँकना चाहिये, और जहाँ तक हो सके उनके साथ ही रहना चाहिये।

बालक शाला के बाहर खेल खेलते हैं, नाटक खेलते हैं, (जिनमें शिक्षकों और माता-पिताओं की नक़ल भी होती है।) लड़ाइयाँ लड़ते हैं, नाचते हैं, कूदते हैं, घूमते-फिरते हैं, चढते, उछलते और गिरते-पड़ते हैं; तमाम सामाजिक और राष्ट्रीय वातावरण से भली-बुरी बातें ग्रहण करते हैं; अपनी अनेक शक्तियों का विकास करते हैं, अनेक शक्तियों को बेकार खर्च करते हैं। शिक्षक इन सब प्रवृत्तियों से परिचित रहे। जासूसी करके नहीं, बालकों के प्रति सहानुभूति और प्रेम रख कर। शिक्षक उनके साथ रह कर उनकी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं, उनकी उड़ानों और संकल्पों का पोषण करे, उनके साहसों और वीरतापूर्ण कार्यों को आगे बढ़ावे, उन्हें प्रोत्साहित करे। उनके खेल-कूद में पूरी दिलचस्पी ले। शिक्षक के जीवन का यह अतिशय रसिक और महामूल्य अंग है। यह अंग उसे सच्चे शिक्षक के नाते किये गये उसके काम के बदले में मिला है, और वेतन-रूप में नहीं, तो इनाम के रूप में तो अवश्य मिला है और एक क़ीमती अधिकार के रूप में यह एक पवित्र भेंट है, इसमें शक नहीं।

जिस प्रकार बालकों के साथ का परिचय शिक्षक का एक महामूल्य अधिकार है, उसी प्रकार बालकों के द्वारा उनके माता-पिताओं की मित्रता भी शिक्षक का हक़ है। शिक्षक ने आज तक इस हक़ का बहुत सदुपयोग नहीं किया है। उलटे उन्हे अधिकतर इसका दुरुपयोग करते जाना है। वस्तुतः तो यदि शिक्षक माता-पिता का सहयोग प्राप्त कर ले, उन्हें अपने बच्चों की शिक्षा में दिलचस्पी लेना सिखा दे, तो शिक्षक अपने-आप

एक महान् शक्ति बन जाय। शिक्षक को पद-प्राप्ति के लिये दूसरा कोई प्रयत्न भी न करना पड़े। लेकिन शिक्षक ने आज तक यह काम किया नहीं। धनवान माँ-बापों के घर निमन्त्रण पाकर भोजन करने जाना और उन्हें खुश करने के लिए हलका काम तक करने को तैयार हो जाना, शिक्षक के गौरव को लजाना है। ऐसे शिक्षकों की अधिकांश शक्ति बोर्ड या कमिटी के मेम्बरों और गाँव के इज़्ज़तदार लोगों को खुश रखने में ही बेकार खर्च होती है। लेकिन माता-पिता को और प्रतिष्ठित नागरिकों को अपने काम में बालकों के खातिर सहयोग करने के लिये राज़ी करना जुदा बात है, और शिक्षक के सीखने योग्य है।

शिक्षक भाइयो और बहनो! इस लेख में कोई बात आवश्यकता से अधिक कड़ी लिखी गई हो तो माफ़ कीजियेगा। विश्वास रखियेगा कि आपकी निन्दा करने के लिये नहीं, बल्कि हमारी स्थिति, हमारा पद जल्दी सुधरे, इसी विचार से एक-एक शब्द लिखा गया है। शिक्षक का उच्च पद और गौरव पुनः प्राप्त करने के लिये हममें से हरएक को अविश्रान्त परिश्रम करना होगा। अब हम अपमानित या अवमानित दशा में जीना कभी पसन्द न करें। अब हमें अपनी दशा पर ग्लानि आनी चाहिये। हमें यह सोचकर अपने ऊपर तिरस्कार आना चाहिये, कि "गुरु के रूप में हमारा यह जीवन इतना अधोगति को पहुँच जाने पर भी हम क्यों नहीं जागते?"

याद रखिये कि हमारी उन्नति हमारे ही हाथ है। हम चाहें, तो हमीं शिक्षा विभाग के स्वामी बन सकते हैं। हमें किसी के सामने गिड़गिड़ाने, किसी की खुशामद करने या किसी का मन रखने की ज़रूरत ही क्या है?

लेकिन यह कब सम्भव है? तभी जब हम शिक्षा विभाग की ओर से अपना मुँह फेर कर बालकों के प्रति अभिमुख होंगे, शिक्षा-विभाग का अनुगमन करने की अपेक्षा हमारे पास आनेवाले अपने गुरु-रूप बालकों का अनुगमन करेंगे। तभी हमारे ये बालगुरु बड़े होने पर हमें

प्रजा के गुरु के स्थान पर प्रतिष्ठित करेंगे, हमारी गँवाई हुई प्रतिष्ठा को पुनः हमें लौटावेंगे।

हमारा पद उसी क्षण बढ़ जायगा, जिस क्षण हमें यह प्रतीति हो जायगी कि सारी प्रजा का बल हमारी मुट्ठी में है। प्रजा के निर्माण का बल हमारे हाथ में है। प्रजा के जीवन के हम रक्षक हैं। जिस क्षण अपनी महत्ता में हमें श्रद्धा होगी, वही क्षण हमारी महत्ता की सिद्धि का भी होगा।

"पढने का अर्थ ही गलत है। जो गुनना न जानें, वे पढे नहीं हैं। जो गुन सकें वे ही पढे हैं। यह मानना भ्रम है कि पढाई शाला ही में हो सकती है। जो धर्म का आचरण कर सकें, वे पढे हुए हैं। इसके साथ अक्षरज्ञान हो, तो वह एक अधिक साधन माना जायगा। मौका पाकर यह ज्ञान हम प्राप्त कर लें। यह समय तो अनुभवरूपी ज्ञान प्राप्त करने का है। इसलिए अक्षरज्ञान अभी स्थगित।"

—गांधीजी

× × ×

"ज्ञान के मुख्य हाथ-पैर हमारी इन्द्रियाँ हैं। विचार करना सीखने के लिए मनुष्य को अपनी इन्द्रियों का उपयोग करना सीखना चाहिये।"

—रूसो

× × ×

"स्वाधीनता के मार्ग पर आगे बढने में जो शिक्षा बालकों की मदद करती है, वही शिक्षा प्राणवान है।"

—डॉ० मोन्टीसोरी

× × ×

"मनुष्य अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में अनुभव करता है, समझता है, और क्रिया करता है। मनुष्य को मनुष्यत्व प्राप्त कराने के लिए शरीर की, मन की और क्रियाशक्ति की उत्तम शिक्षा दिलानी चाहिए।"

— सेगुइन

[३]

शिक्षक और शिक्षण-शास्त्र

क्या शिक्षकों को शिक्षण शास्त्र की ज़रूरत है ? यह सवाल बहुत ही महत्व का है। हमारे देश में आजकल आम तौर पर यह माना जाता है, कि अंग्रेजी पढ़ा हुआ कोई भी मनुष्य—और ख़ास करके ग्रेजुएट शिक्षक बन सकता है। इस ख़्याल की बदौलत शिक्षा-संस्थायें ग्रेजुएटों को शिक्षक रखकर यह सन्तोष कर लेती हैं कि उन्होंने शिक्षा-कार्य के लिये योग्य आदमी प्राप्त कर लिये हैं। ये ग्रेजुएट खुद भी शिक्षा-सम्बन्धी काम करने के लिए सदा साहस के साथ तैयार रहते हैं। लेकिन इन दोनों का यह ख़याल गलत है। जिस प्रकार वकील, डॉक्टर या कारीगर अपना धन्धा जाने बिना वकालत, डॉक्टरी या कारीगरी नहीं कर सकता, उसी प्रकार शिक्षक का धन्धा जाने बिना कोई आदमी यह धन्धा नहीं कर सकता। किसी पेशे को बिना सीखे अख़्तियार करनेवाला जैसे उसमें असफल होता है, वैसे ही शिक्षक के धन्धे को न जाननेवाला आदमी भी उस धन्धे के ज्ञान के अभाव में असफल ही होगा।

फिर भी अबतक हमारे देश में पढ़ाई का काम प्रायः उन्हीं लोगों के हाथ में रहा है, जिनको शिक्षण-शास्त्र का ज्ञान नहीं है, और इसी कारण हमारे देश की शिक्षा की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो पाया। सबने यह समझ लिया कि जिन विषयों को वे पढ़ चुके हैं, आसानी के साथ वे उन्हें दूसरों को पढ़ा भी सकते हैं, इस वजह से न तो पढ़ाई के विषयों में कोई परिवर्तन हो सका, न पढ़ाने के ढंग में। अब समय बदला है। आज हमारे सामने ये प्रश्न उपस्थित हैं कि राष्ट्रीय उन्नति के लिए कौन-कौन से विषय सिखाये जायँ और किस रीति से सिखाये जायँ ? पहले से अबतक जो विषय और उपविषय पढ़ाये जाते रहे हैं उनमें से कुछ को

पाठ्यक्रम में से निकाल डालने और कुछ नये विषयों को बढ़ाने का श्री-गणेश हो चुका है और आन्दोलन चल पड़ा है। साथ ही हमने जिस ढंग से अबतक पढ़ाया, वह ढंग पुराना और हानिकारक सिद्ध हो चुका है, फलतः उसे हटाने की कोशिशें, और कहीं कहीं तो प्रयोग भी, शुरू हो चुके हैं।

ऐसी दशा में शिक्षक का धन्धा जाने बिना, नये-नये विषयों का और उन्हें पढ़ाने की पद्धति का ज्ञान प्राप्त किये बिना, शिक्षक बनने के लिए निकल पड़ना विचित्र ही मालूम होता है, और किसी भी विद्यालय का, शिक्षण-शास्त्र से अनभिज्ञ शिक्षक को शिक्षा का काम सौंपना भी उतना ही विचित्र है। लेकिन जबतक सारे देश में शिक्षक तैयार करने की देशी संस्थायें स्थान-स्थान पर न स्थापित हों, और उनमें से बहुसंख्यक योग्य शिक्षक तैयार होकर न निकलें, तबतक किसी भी शिक्षक बनने की इच्छा रखनेवाले को और किसी भी विद्यालय को वर्तमान परिस्थिति के वश होकर खाली बैठे रहना अच्छा नहीं। और, खासकर उस संस्था के लिए जो राष्ट्रीय या सामाजिक दृष्टि से विद्याभ्यास कराने का प्रयोग कर रही है, इस प्रकार का व्यवहार पापरूप ही गिना जायगा। ऐसी दशा में शिक्षकों को सच्चे शिक्षक बनने के लिए अग्रसर होने का, और देश को ऐसे शिक्षक तैयार करनेवाली संस्थायें स्थापित करने का धर्म अंगीकार करना चाहिये।

देश के हित के लिए ऐसे प्रयत्न चारों ओर तुरन्त ही शुरू हो जाने चाहियें, और इन प्रयत्नों के मार्ग में आनेवाली सब तरह की कठिनाइयों का हिम्मत के साथ मुक़ाबला करना चाहिये। मार्ग में आनेवाली बाधाओं में से दो बाधायें प्रधान कही जा सकती हैं—

एक, यह धारणा कि शिक्षण-शास्त्र के ज्ञान के बिना भी अनुभव द्वारा शिक्षक बना जा सकता है, और दूसरी, हमारे देश-भाइयों में परिश्रम-शीलता का अभाव।

यह निरा भ्रम है कि अनुभव से शिक्षक बना जा सकता है। यह केवल भ्रम ही नहीं है, बल्कि एक विषैला विचार भी है। इस दुनिया में जन्मजात शिक्षक (बॉर्न टीचर) बहुत ही थोड़े होते हैं, बल्कि बिरले ही होते हैं, और इन बिरले शिक्षकों का अनुभव ही अनुभव कहा जा सकता है। दूसरे शिक्षक तो सामान्य मनुष्य हैं, और वे परिश्रम पूर्वक शिक्षक बनें, तभी शिक्षण का कार्य कर सकते हैं। जन्मजात शिक्षकों के लिये भी शास्त्र का ज्ञान उपयोगी ही नहीं बल्कि आवश्यक भी है; तो फिर साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या? अनुभव से शिक्षक बन सकने का विचार प्रकृत शिक्षकों को भी उनके स्थान से नीचे गिरा देता है, तो साधारण शिक्षकों की वह कैसी स्थिति कर देता होगा?

अनुभव से शिक्षक नहीं बना जाता, उल्टे अ-शिक्षक बना जाता है। इस सत्य को समझना कठिन नहीं है। 'मुझे फलाँ काम का अनुभव है,' इसका अर्थ केवल यही है, कि यह काम मैं बहुत अर्से से करता आया हूँ, और उसी तरह यह काम होता रहा है। अनुभव के इस अर्थ में यह जानने या देखने का कोई साधन हमारे पास नहीं कि मेरा काम ठीक था या गलत। अगर काम ठीक था, तो बहुत अर्से से मेरे द्वारा होते रहने से मुझे ठीक काम का अनुभव है, और अगर वह गलत या झूठा था तो गलत काम अर्से तक मैं करता रहा, इसलिए मुझे गलत काम का अनुभव है। यही कहा जायगा।

शिक्षक का काम करनेवाला आम तौर पर प्रकृतिसिद्ध शिक्षक नहीं होता, और अपने ढंग से काम करनेवाला शिक्षक प्रायः अपनी भूलों को ही बारबार दुहराया करता है। इस कारण उसके अनुभव को भूलों की एक परम्परा ही समझिये। यदि कोई यह मानता है, कि 'अनुभवी शिक्षक को शिक्षण-शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता नहीं,' तो उसकी धारणा बहुत भ्रमयुक्त है, और इतने विवेचन के बाद यह साफ़-साफ़ समझ लेना कठिन नहीं है। अतएव यदि कोई शिक्षक किसी ऐसे ही कारण से शिक्षण-

शास्त्र का विरोधी हो, तो यह भी एक सवाल होगा कि वह शिक्षक बनने के योग्य भी है या नहीं।

मेरे कहने का यह आशय नहीं कि अकेले शिक्षण-शास्त्र के ज्ञान ही से आदमी शिक्षक बन सकता है। इसके विपरीत, जिस प्रकार अकेले क़ानून के ज्ञान से आदमी क़ानून-पण्डित नहीं बन सकता, उसी प्रकार अकेले शिक्षण शास्त्र का ज्ञाता भी शिक्षक नहीं बन सकता। उसमें दूसरे गुणों की भी अपेक्षा है। उन गुणों के अभाव में साधारण आदमियों का इस धन्धे में कूद पड़ना या शिक्षा-संस्थाओं को ऐसे आदमियों को नियुक्त करना देश का अ-कल्याण करने के समान है, जो कदापि न होना चाहिये।

दूसरी बाधा हमारे भाइयों का परिश्रम से दिल चुराना है। यह बाधा नहीं, दूषण है। इसे दूर करना ही चाहिये। समझदार आदमियों को देश हित के लिये मेहनत करनी ही चाहिये। तिसपर भी मेहनत करने का स्वभाव न हो, या परिश्रम के कार्य से तन्दुरुस्ती को हानि पहुँचती हो, तो ऐसे आदमी को जाने-अनजाने भी शिक्षक के धन्धे में कदापि क़दम न रखना चाहिये। ऐसा होने पर ही देश के कल्याण की कुञ्जी-नुमा इस धंधे में तेज आवेगा और अन्त में देश का उद्धार होगा। सरकार ने शिक्षक तैयार करने की सस्थायें खोल रक्खी हैं, परन्तु उनसे देश को जैसे शिक्षकों की ज़रूरत है, वैसे शिक्षक कभी नहीं मिले।

"धीरज का गुण शिक्षक में अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है। धीरज-विहीन आदमी की तुलना वैज्ञानिक से करना अन्धे को आँखवाला कहना है। वह अपनी निरी आँखों से तो देख नहीं सकता, लेकिन उसमें कृत्रिम आँखों, लेन्स, दूरबीन, वग़ैरा से देखने जितनी भी धीरज नहीं होती। नम्रता धीरज का मूल है। वैज्ञानिक सम्पूर्ण निरभिमानी होता है।"

—डॉ० मोन्टीसोरी

[४]

शिक्षा-विषयक कुछ भ्रम

हम शिक्षक के पवित्र कार्य को हाथ में लिये बैठे हैं, फिर भी हममें से शिक्षा-सम्बन्धी कुछ भ्रम अभी तक दूर नहीं हुए। इन भ्रमों या वहमों के कारण हम अपने कर्त्तव्य से विमुख हुए जाते हैं, पीछे रहे जाते हैं। आज हम पुराने वहमों की मखौल उड़ाते हैं, और फिर भी उन वहमों से भी अधिक नुक़सानदेह वहमों को पोस रहे हैं।

हम यह मानते हैं कि विद्यार्थी सीखना ही नहीं चाहते। उनपर पढ़ने का कर्त्तव्य लादा न जाय, तो हमारी पाठशालाओं में आज एक भी विद्यार्थी न रह जाय।

हमारी धारणा है, कि आज विद्यार्थियों का जो समूह शिक्षा पा रहा है, वह केवल माता पिता के दबाव और शिक्षक की धाक का ही फल है। हमारी यह धारणा बड़ा भारी भ्रम है। यह सच है कि आज हम विद्यार्थियों को जो सिखा रहे हैं, वह सब अधिकांश में तो विद्यार्थी दबाव में आकर या भय और लालच के अधीन होकर ही सीखते हैं। इसका कारण यह नहीं है कि विद्यार्थी सीखना ही नहीं चाहता, या पढ़ाई से उसे अरुचि ही है, बल्कि सच तो यह है कि हमारा पढ़ाने का तरीक़ा ही इतना अधिक नीरस, अशास्त्रीय और अर्थहीन हो गया है, कि विद्यार्थी उससे उकता उठे हैं। भूल से विद्यार्थी की इस मानसिक स्थिति को अभ्यास के प्रति उसका अनादर समझ कर, हमने अपना यह मत बना लिया है, कि विद्यार्थी को स्वभाव ही से अभ्यास में रुचि नहीं होती।

सच तो यह है, कि हरएक मनुष्य-प्राणी केवल प्रेरणाबद्ध ही नहीं है। पशु केवल प्रेरणावश कार्य करके अपना जीवन व्यवहार चलाते हैं।

मनुष्य सिर्फ़ इसी कारण मनुष्य है कि उसमें जन्म से न केवल कुछ प्रेरित शक्तियाँ होती हैं, बल्कि वह बुद्धिशाली और विचारशील भी होता है। बुद्धि का स्वाभाविक उपयोग ज्ञान-प्राप्ति के लिये किया जाता है। इसीलिये जन्म के समय बालक में जितनी शक्तियाँ होती हैं, सदा के लिये वे उतनी ही नहीं रहतीं, उनमें दिनों-दिन वृद्धि होती जाती है। मनुष्य की बुद्धि के उचित उपयोग ही में उसका विकास है। इस बुद्धि का उपयोग करने की वृत्ति का ही दूसरा नाम अभ्यास करने की वृत्ति है। यदि बालक में अभ्यास करने की वृत्ति स्वाभाविक न होती, और यदि मनुष्य के लिये नई-नई बातों का अभ्यास परम आवश्यक न होता तो बालक सदा के लिये बालक ही रहा होता।

अपने अनुभव से हम जानते हैं, कि समाज का हरएक मनुष्य सामाजिक बनने और रहने के लिये प्रतिदिन अपनी शक्ति बढ़ाता ही जाता है। जीने के लिये उसकी कोशिश से ही यह प्रकट होता है, कि मनुष्य स्वभावतः अभ्यास-परायण प्राणी है। जिन अनेक मनुष्यों ने पाठशाला की सीढ़ी पर कभी पैर भी नहीं रक्खा, उन सबको हम अनपढ़ नहीं कह सकते। सम्भव है कि उन्हें किसी विषय का पारदर्शी ज्ञान न हो, फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि उनमें ज्ञान है। यह ज्ञान कहाँ से आता है? आज ऐसी अनेक बातें हैं, जो पाठशाला में सिखाई नहीं जातीं, फिर भी विद्यार्थी उन्हें जानते हैं। यह ज्ञान भी उन्हें कहाँ से मिलता है? जवाब यही है कि यह ज्ञान विद्यार्थी की ज्ञान प्राप्त करने की नैसर्गिक आवश्यकता का ही परिणाम है।

जिज्ञासा की वृत्ति स्वाभाविक वृत्ति है। इस वृत्ति को संतुष्ट करने की क्रिया के साथ ज्ञान प्राप्ति की क्रिया होती ही रहती है। इस वृत्ति का विकास करने में तालीम या शिक्षा का उपयोग है। आज कल की पाठशालाओं में हम विद्यार्थी की जिज्ञासा का पोषण नहीं करते। हम तो पढ़ा देने या अपनी महत्त्वाकांक्षा का पोषण करने की ही कोशिश करते हैं।

हमारी महत्वकांक्षा और बालक की जिज्ञासा का मेल मिल जाता है, वहाँ तो बालक सीखता मालूम पड़ता है। लेकिन जहाँ इनका परस्पर विरोध होता है, वहाँ बालक हमें अभ्यास विमुख, मन्द और मूर्ख मालूम पड़ता है। इसी कारण हम यह भी सोचने लगते हैं कि विद्यार्थी सीखना नहीं चाहता और तभी हम उस पर दबाव डालते, उसे भय और लालच दिखाना चाहते हैं। लेकिन यदि एक बार हमारा यह भ्रम दूर हो जाय और हम समझ लें कि विद्यार्थी तो पढ़ना चाहता है, किन्तु हम उसकी जिज्ञासा को समझ नहीं सकते, हम उसे संतुष्ट कर नहीं सकते, हम उसके रहनुमा बन नहीं सकते, तो हम अपनी शिक्षा प्रणाली में बहुत कुछ हेर फेर कर डालें। तब हम यह जानने की कोशिश करेंगे, कि उसकी जिज्ञासा किसमें है? ऐसे साधन जुटावेंगे, जिन पर उसकी जिज्ञासा का पूरा प्रतिबिम्ब पड़े, और ऐसी परिस्थिति पैदा करेंगे, जिसमें उसकी जिज्ञासा तृप्त हो। हमें चाहिये कि उसे वही ज्ञान दें, जिस ज्ञान का वह भूखा हो। जो चीज उसके स्वभाव के अनुकूल न हो, जिससे उसे हानि पहुँचने की संभावना हो, उसे उसकी शिक्षा से निकाल ही डालें।

हमारी दूसरी धारणा यह है, कि अकेले शब्द के ज्ञान से वस्तु का ज्ञान होता है। बालक या विद्यार्थी के कोई कसूर करने पर जो बालक से यह पूछते हैं—'ऐसा क्यों किया?' 'किस तरह हुआ?' उन पर तो हमें तरस ही खाना चाहिये। ऐसे प्रश्नों की निःसारता और पूछनेवाले की नासमझी को हम आसानी से समझ सकते हैं। उन्हें हम जाने दें। जिस बात को हम व्यवहार में समझते हैं, शिक्षा में उसे भी भूल जाते हैं। हम जानते हैं, कि 'बातों से पेट नहीं भरता', फिर भी हमीं यह मानने की गलती करते हैं, कि विद्यार्थी बोध-मात्र से नीतिमान बन जाता है। उपदेश की हुई बातें विद्यार्थी याद रख सकता है, दूसरों को सुना भी सकता है, लेकिन इनका उसके जीवन पर कितना असर पड़ता है?

अनेक उपदेशक सुन्दर उपदेशों-द्वारा दूसरों को मुग्ध कर लेते हैं।

फिर भी उनके अपने लिए तो उनका उपदेश "पोथी का बैंगन" ही रहता है। इसका कारण यही है कि उनका ज्ञान शाब्दिक है, हार्दिक नहीं। हरएक ज्ञान वास्तविक होने पर ही हार्दिक होता है। आजकल की सारी शिक्षा का आधार शब्द है, वस्तु नहीं। यही कारण है, कि आज मनुष्य केवल कल्पना-जगत् में विहार कर रहा है। वास्तविक सृष्टि से वह सदैव दूर रहता है, और इसी कारण उसमें वह जी नहीं सकता। वास्तविक सृष्टि में जीने के योग्य वह नहीं रहता। ऐसा आदमी पठित मूर्ख कहा जाता है। हमें वर्षों से ऐसी शिक्षा मिलती आई है, और आज भी वही मिल रही है। इसी कारण हम बार बार कर्त्तव्य को छोड़ कर तर्क और दलीलों पर दौड़ जाते हैं। हकीक़त यह है कि शब्द के ज्ञान से शब्द की ही जानकारी बढती है, वस्तु की नहीं। शिक्षा या तालीम का आरम्भ वास्तविकता के ज्ञान से होना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं कि शिक्षक का उद्देश्य मनुष्य को स्थूल और जड़ सृष्टि का उपासक बनाना होना या रहना चाहिये। यह स्थिति शाब्दिक ज्ञान की स्थिति का दूसरा छोर है। वास्तविक शिक्षा के अर्थ को केवल स्थूल शिक्षा तक ही परिमित रखने में निरा जड़वाद है,—सच्ची शिक्षा में न तो केवल शब्द को स्थान है, और न कोरमकोर वास्तविकता को ही स्थान है।

जीवन को भावना-प्रधान बनाने के लिये, उसमें कवित्व और सौन्दर्य लाने के लिये जितना स्थान कल्पना को दिया जा सकता है, उतना ही स्थान जीवन को सच्ची तरह समझने के लिए वास्तविकता को भी देना चाहिये। इन सब बातों को ख़याल में रखकर हमें समुचित शिक्षा-पद्धति का निर्माण करना चाहिए। इसलिए हम जो-कुछ सिखाते हैं, सो केवल ज़बानी और भाषण दे करके न सिखावें। शिक्षा के अधिकतर विषयों का ज्ञान हम विद्यार्थी को उसके अपने अनुभव, प्रयोग और अवलोकन-द्वारा ही करावें। जहाँ तक हो सके, सारी शिक्षा वस्तु के साक्षात् परिचय-द्वारा दें। जहाँ-जहाँ ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो, वहाँ-

वहाँ उन इन्द्रियों-द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करावें। इसके लिए हमें शिक्षा की योजना में इन्द्रिय-विकास को स्थान देना और विद्यार्थियों में अवलोकन-शक्ति बढ़ाने के लिये उन्हें पाठशाला की चारदीवारी से निकालकर विशाल जगत् के सामने खड़ा करना चाहिये।

प्रत्यक्ष संसार में जाने से मनुष्य में अनेक प्रकार की शक्तियों का विकास हो जाता है। अनेक मनुष्यों के परिचय में आने से, भिन्न भिन्न प्रकार के अनेक उपकारपूर्ण कार्यों में शामिल होने से, और यथासंभव यात्रा करने से विद्यार्थी का अवलोकन और अनुभव बढ़ता है। इससे उसके ज्ञान की वृद्धि होती है और वह शब्द को भी समझकर ग्रहण करने योग्य बनता है। जिसकी कर्णेन्द्रिय का विकास नहीं हुआ है, दुनिया का वास्तविक ज्ञान जिसे नहीं है, जो वास्तविकता से दूर है, वह शब्दों के चमत्कार को नहीं समझ सकता। उसके सामने कविता निरर्थक है। उसके लिए कोई भी शब्द-चित्र अर्थहीन है, कोई भी भावना निरी उलझन है, केवल समस्या-रूप है।

आज समाज की यही दशा है। समाज में आज शुद्ध काव्य को स्थान नहीं है। आज समाज भावना को केवल असम्भव कल्पना कहकर हँस देता है। आज क्षुद्र नाटकों ही से वह रस की 'घूँटें' पीता है। उस-का अध्ययन तीसरे दर्जे के बाजारू उपन्यासों तक ही परिमित है। दूसरी बातों को, भविष्य के गर्भ में छिपी हुई वस्तु को, परिमित सीमा तक भी समाज नहीं देख सकता। इसका कारण आजकल की शाब्दिक शिक्षा ही है। भावी सन्तान की भलाई के लिए हमें अपना यह भ्रम दूर करना चाहिये और भरसक अपने विद्यार्थियों को प्रत्यक्ष और वास्तविक ज्ञान अधिक कराना चाहिये।

हमारा एक खयाल यह भी है कि बुद्धिशाली विद्यार्थी ही पढ़ना पसन्द करते हैं, मन्दबुद्धिवालों को पढ़ना अच्छा नहीं लगता। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि जिस विद्यार्थी को पढ़ना पसन्द है, वह बुद्धि-

शाली भी है, और जिसे नहीं है, वह मन्दबुद्धि है। यह ख़याल एकदम ग़लत है। हरएक आदमी बुद्धिशाली तो है ही, लेकिन हरएक मनुष्य को सभी विषय पढ़ना पसन्द नहीं होता। कोई कुछ पढ़ना पसन्द करता है, कोई कुछ। कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं, जिन्हे गणित से असाधारण प्रेम होता है, पर इतिहास के साथ उनकी पूरी दुश्मनी होती है। आप यह कैसे कह सकते हैं कि उनमें बुद्धि नहीं है? बिना बुद्धि के गणित जैसे विषय में कोई दिलचस्पी ले ही नहीं सकता। तो फिर उन्हें इतिहास पसन्द क्यों नही है? जवाब सिर्फ़ यही है, कि इतिहास में उन्हें मज़ा नहीं आता। उनके मनमें इस विषय का 'वातावरण' नहीं होता। इसलिये किसी एक विषय में अरुचि प्रकट करनेवाले विद्यार्थी के लिये हम यह नहीं कह सकते, कि वह मन्द या निर्बुद्धि है। हाँ, यह कहना ही उचित्त और बुद्धियुक्त है, कि उसे उस विषय में मज़ा नहीं आता।

हमारा काम तो सिर्फ़ यही है कि हम यह जान लें कि विद्यार्थी की विशेष रुचि किस विषय में है, और इतना जान लेने के बाद उसे उस विषय में प्रवीण बनाने में उसकी सहायता करें। हमारे मदरसों की आजकल की परीक्षा-पद्धति और विद्यार्थियों को ऊँचे दर्जों में चढ़ाने की रीति के कारण दो-चार विषयों में प्रवीण और प्रतिभावाले कितने ही विद्यार्थियों को मन्दबुद्धियों की गिनती में शुमार होना और सड़ना पड़ता है। अक़सर यह पाया गया है कि जिसे पाठशाला में एक भी विषय नही आता, वही जीवन में बड़े-बड़े आश्चर्य में डालनेवाले बुद्धि के काम करता है। यही नहीं, बल्कि बहुधा यह भी देखा गया है, कि पाठशाला मे उसे जो विषय सीखना नापसन्द था, जिसमें मन्द गिना जाता था, उसी विषय में आगे चलकर वह धुरन्धर विद्वान् बना है, और समाज में प्रतिष्ठित हुआ है। कारण यह है कि बुद्धिशाली माने जानेवाले विद्यार्थियों को विद्यालय सभी विषय एक साथ पढ़ाने का प्रबन्ध करते हैं। किसी एक विषय में निष्णात बनाने के लिये भी आज सारे

छात्रों को एक ही यंत्र के अन्दर से गुज़रना पड़ता है। जो इस यंत्र के अन्दर से निकल सका, उसे तेज़ और दूसरों को हम कुन्द मानते हैं। बहुधा विद्यालय में आने के बाद विद्यार्थी को मंद बनना पड़ता है। मंद बनना ही उसका कर्त्तव्य हो जाता है। शाला जो विषय पढ़ाना चाहती है, उसमें उसकी रुचि ही न हो, तो विद्यालय को नमस्कार करने का एक-मात्र मार्ग उसके पास रह जाता है। लेकिन इतने में तो वह मन्द की उपाधि से 'अलंकृत' कर दिया जाता है। किन्तु यदि समाज में हरएक आदमी के लिए निश्चय ही स्थान है, तो मनुष्य को उस स्थान के योग्य बनाने की व्यवस्था करना शिक्षकों का काम है, और यह काम हमें समझ-बूझ कर अपना लेना चाहिये।

हमारी एक धारणा और भी है। वह यह कि विद्यार्थी बगैर सज़ा के अभ्यास-परायण बनते ही नहीं। यह ख़याल अकेले हमारे देश के शिक्षकों में ही हो, सो नहीं। यूरोप-अमेरिका के समान उन्नत देशों में भी इस ख़याल के लोग आज भी मौजूद हैं। यूरोपियन क़ानून के अनुसार शिक्षक को अधिकार है, कि वह विद्यार्थी को उचित सज़ा दे। कुछ ही समय पहले की बात है, इंग्लैण्ड में एक विद्यार्थी को सज़ा देने के लिए एक शिक्षक अपराधी नहीं माना गया था! समाज की धारणा चाहे जो हो, क़ानून का आदेश चाहे जैसा हो, परन्तु शिक्षण के सम्बन्ध में तो मानस-शास्त्र और जीवनशास्त्र को ही प्रमाण-भूत मानना चाहिये। मानस-शास्त्रियों का कथन है, कि सीखने की शक्ति का, फिर हम उसे बुद्धि कहें, ग्रहण धारण शक्ति कहें, या जो चाहें नाम दें, सज़ा के साथ ज़रा भी सम्बन्ध नहीं है। आजकल के डॉक्टरों का भी यह मत है कि शरीर को सज़ा देने से न बुद्धि का विकास होता है, न स्मरणशक्ति बढ़ती है।

सज़ा के ज़ोर से विद्यार्थी के शरीर को एक ख़ास ढंग से बैठने को विवश किया जा सकता है, लेकिन उसके मन को विषयाभिमुख तो कदापि नहीं किया जा सकता, क्योंकि मन शरीर से परे है। शरीर को चाहे जितना

बाह्य स्थिरता के रहते भी चंचल मन उससे परे, कहीं दूर, भटक सकता है। सज़ा में भय रहता है। आज हम अपनी सन्तान को भयतीत पाते हैं, उसका एक कारण हमारी वर्तमान शिक्षण पद्धति भी है। सज़ा से डर का ख़याल मुटाता है, पुष्ट होता है, उससे मनुष्य डरपोक और गुलाम बनता है। बालक के कोमल दिमाग़ पर सज़ा का बहुत ही बुरा, बल्कि भयानक असर होता है। सज़ा उसके जीवन को नीरस बना सकती है। सज़ा का डर उसकी आँखों के सामने बराबर बना रहने से, विद्यार्थी में न तो तेज बढ़ता है, न बल की वृद्धि होती है। धीरे धीरे बालक सज़ा से इतना भय-भीत हो जाता है, कि सजा के किसी भी मौक़े का विरोध करने की शक्ति तक खो बैठता है; वह विरोध कर ही नहीं सकता। देश और धर्म के लिये सजा पाने का मौक़ा आने पर भी वह जान बचाकर भाग निकलता है। इस सज़ा के फलस्वरूप बड़ी उम्रवाले और हट्टे-कट्टे आदमी भी रात को चोर के नाम से डरते हैं, और अकसर सपने में 'चोर-चोर' कहकर बलबला उठते हैं।

सज़ा आदमी को डर की तालीम देती है। निर्भयता का वह मूल ही से नाश करती है। यदि हमें निर्भय मनुष्यों की आवश्यकता हो, यदि हम अन्याय के लिए बड़े से बड़े मान्धाता का भी विरोध करनेवाले प्राण-वान स्त्री-पुरुष पैदा करना चाहते हों, तो हमें विद्यार्थी को मदरसे में शिक्षक के डण्डे या छड़ी से काँपनेवाला बनाने की अपेक्षा ऐसा निडर बनाना चाहिये कि वह किसी से भी न डरे। 'सज़ा करने से आदमी में दण्ड सहने की शक्ति पैदा होती है', यह दलील इतनी लचर और क्षुद्र है, कि इसके सम्बन्ध में कुछ कहना ही फिजूल है। यदि बात ऐसी ही हो, तब तो बालक को लायक सिपाही बनाने के लिये रोज़ रोज़ सजा देनी ही चाहिये। और इस दुनिया के अनेक दुःख सहन कर सकने के लिए सजा देनेवाले मदरसे भी क़ायम किये जाने चाहियें! लेकिन इस दलील का तो इतना उत्तर भी आवश्यक नहीं है।

"छड़ी बाजे छमछम, और विद्या आवे धमधम"

इस भयंकर असत्य से तो हमें दूर ही रहना चाहिये। यह कहावत हमारा धर्म-शास्त्र या शिक्षण-शास्त्र कदापि न बने। 'परमेश्वर भी पापियों को दण्ड देता है, इसलिए सज़ा धर्म है', जिनके ऐसे विचार हैं, वे परमेश्वर की महत्ता और दया को बिलकुल नहीं समझते। परमेश्वर तो हरएक आदमी को उसके पाप धोने के लिए, पापों का प्रायश्चित्त करने के लिये सुन्दर-सा अवसर प्रदान किया करता है। वह न वैर रखता, न सज़ा करता है। पापी आदमी अपनी इच्छा से प्रायश्चित्त कर सकता है, लेकिन शिक्षक सज़ा करके विद्यार्थी से प्रायश्चित्त नहीं करा सकता। यह दूसरी बात है, कि शिक्षक विद्यार्थी में प्रायश्चित्त की बुद्धि जागृत करे, और विद्यार्थी स्वयं अपनी ग़लती या पाप के लिए प्रायश्चित्त करे। ऐसा करनेवाला शिक्षक दण्ड-द्वारा विद्यार्थी को नामर्द नहीं बनाता। जो अपनी इच्छा से प्रायश्चित्त करता है, वह तो शूरवीर है, पर जो दूसरों के हाथों सज़ा पाकर आता है, वह केवल का पुरुष है। ऐसे कापुरुष को सज़ा करनेवाला मनुष्य अधम है।

"शिक्षक की वाचालता की अपेक्षा उसका मौन अधिक उपयोगी है। सिखाने की अपेक्षा शिक्षक को बालकों का अवलोकन करने की अधिक आवश्यकता है। यह अभिमान कि मैं भूल कर ही नहीं सकता, शिक्षक का महान् दोष है। उसे तो नम्रता-पूर्वक अपनी भूल का पता लगाना और भूल कबूल करना चाहिये। यही उसका कर्त्तव्य है।"

—डॉ० मोन्टीसोरी

× × ×

"अपने आराम और विकास के लिए जो मनुष्य आवश्यक काम कर सकता है, वह महान् विजेता है, स्वाधीन है, स्वतंत्र है। जिसे दूसरे का आधार है, वह वास्तव में गुलाम है।"

—डॉ० मोन्टीसोरी

[५]

शिक्षक और उनकी बाल्यावस्था

सब कोई जानते हैं कि टॉल्स्टॉय एक महान् तत्त्वचिन्तक थे । वह शिक्षक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। उन्होंने स्वयं एक शाला खोली थी। शिक्षा विषयक उनके विचार मननीय है । किसी लेखक ने लिखा है कि शिक्षक के नाते टॉल्स्टॉय की योग्यता और सफलता का श्रेय उनकी अपनी बचपन की स्मृति को है । सचमुच ही टॉलस्टॉय को अपना बचपन भली-भाँति याद था । उन्हें अपने माता पिता का और शिक्षकों का व्यवहार खूब अच्छी तरह याद था। बचपन में उनकी आकांक्षायें, कल्पनायें वग़ैरा क्या थीं, और बड़ों ने उनका किस तरह विरोध किया था, यह वह भली-भाँति जानते थे । वह अपने इस अनुभव को भूले न थे कि बड़े बूढे लोग बालकों के प्रति कैसी घृणा,लापरवाही, और अ-सहानुभूति रखते हैं । वह यह भी न भूल सके थे कि बालकों को क्या पसन्द होता है, और कौनसी वस्तुयें और क्रियायें उनकी दृष्टि में बड़े महत्त्व की होती हैं । इन्हीं कारणों से जब बड़े होने पर वह शिक्षक का काम करने लगे, तो वह बालकों की रुचि को खूब अच्छी तरह समझ सकते थे । टॉलस्टॉय ने शिक्षणशास्त्र के विचारों में कोई नई वृद्धि नही की, उन्होंने कोई अपनी, नई शिक्षा प्रणाली नहीं निकाली । फिर भी छात्र उनसे खूब प्रसन्न रहते थे । उन्हें अपना दोस्त समझते थे और सदा उनका प्रेम प्राप्त करने की कोशिश में रहते थे । कभी उनसे अलग नही होते थे । शाला के समय के बाद भी शाला से घर जानेवाले बालकों को उन्हें ज़बर्दस्ती घर भेजना पड़ता था । जिस प्रकार बालक अपने माता-पिता के साथ खेलते कूदते और प्रसन्न रहते हैं, टॉल्स्टॉय के साथ छात्र भी वैसे ही रहते थे । टॉल्स्टॉय अपने छात्रों को छडी से या सिखावन से वश में नहीं रखते थे । बालक वैसे ही उनके अधीन रहा करते थे । वह बालकों के मनोभावो को ताड जाते थे और उनका भली-भाँति पोषण करते थे । इन सबका मूल कारण टॉल्स्टॉय के शब्दों में

यही था कि उन्हें अपने बचपन स्मृति ताजा थी, और यह सच भी है।

हमें बहुधा ऐसा प्रतीत होता है, मानों हम अपने बचपन को भूल गये हैं। साधारणतया बचपन की घटनाओं को याद करने पर भी वे जल्द याद नहीं आतीं। कुछ लोगों के विचार में बाल्यावस्था का विचार करना या उसकी स्मृति को ताज़ा करना न केवल निरर्थक ही है, बल्कि क्षुद्र भी है। कई अपनी बाल्यावस्था के प्रति ऐसी दृष्टि रखते हैं, मानों उन्हें उसकी पर्वा ही न हो।

वस्तुत जीवन में बाल्यावस्था ही सबसे महत्त्व की अवस्था है। इसी अवस्था की नींव पर आज का वर्तमान खड़ा है। लेकिन यह भी अर्ध सत्य है, सच्चा और सम्पूर्ण सत्य तो यह है कि बचपन को ही हम बड़े पैमाने पर और बड़े स्वरूप में अपनी आज की अवस्था कहते हैं। बचपन आकर चला नहीं गया, वह आकर सदा के लिए हमारे साथ रहा है। इसका अर्थ यह है कि बचपन में हमारा जैसा चरित्र-निर्माण हुआ, शरीर बना, मानसिक शक्तियों का विकास हुआ, इन्द्रियों ने जो विकास प्राप्त किया, और सबसे अधिक तो नैतिक, भावना-सम्बन्धी और धार्मिक वृत्तियों का जैसा निर्माण हुआ, वैसा ही सब आज तक रहा है। जो कुछ बाल्यावस्था में मिला या ग्रहण किया, उसीको आज हम बढ़ा या घटा रहे हैं; दृढ़ और निर्मल कर रहे हैं, तेजस्वी बना रहे हैं,या धुंधला बना रहे हैं। बचपन में बीज उगा, जड़ जमी, तना, डालियाँ और पत्ते पैदा हुए और फूल और फल की नींव पड़ी, कि कैसे फूल और फल आयेंगे। बाद की अवस्था में तो तना बढ़ता है, डालियाँ बड़ी होती हैं, और पत्ते बढ़ते हैं। यही दशा मनुष्य की भी है। संक्षेप में, १०० बरस तक जीनेवाला आदमी जिस प्रकार नौ महीने गर्भ में रहकर पोषण पाता है, उसी प्रकार बचपन में भी मनुष्य की बड़ी अवस्था का पोषण होता रहता है। अतएव आज अपने को समझने के लिए, अपनी शक्ति-अशक्ति के कारणों को जानने के लिए, अपनी रुचि, प्रवृत्ति आदि के बल का पता लगाने के

लिए हमें बचपन की शरण लेनी चाहिये । मानसिक रोगों के वर्तमान चिकित्सक किसी भी मानसिक रोग का मूल खोजने के लिए बचपन की ओर दृष्टि डालते हैं, और वहीं उन्हें उस रोग के मूल का पता चल जाता है। आजकल के अनेक शिक्षा शास्त्रियों के लिए यह एक बड़ा दिलचस्प और अभ्यास का विषय बन गया है, कि मनुष्य की अद्भुत शक्तियों और विचित्र निर्बलताओं का आरंभ बचपन में किस प्रकार हुआ था। बाद की अवस्था में ज्ञान बढ़ता है, बल की वृद्धि होती है, उपयोग अधिक होने लगता है, परन्तु इनका बीज तो बहुत पहले ही पड़ चुका होता है।

जिस बचपन का इतना महत्त्व है, उसकी अवगणना नहीं की जा सकती। उलटे उसे याद करके हमें अपनी वर्तमान अवस्था के मूल कारण का पता लगाना चाहिये। साथ ही अपने बचपन को याद करके हमें आजकल के बालकों के बचपन का सम्मान करना चाहिये। जो बचपन हमें बहुत ही प्यारा था, उसी बचपन में से गुज़रनेवाले हरएक बालक का हम सम्मान करें। जिस बचपन में हम माता पिता की और शिक्षक की सहानुभूति, उनकी उदारता और समझदारी की अपेक्षा रखते थे, और इनके न मिलने पर मन ही मन झुरते थे, दुखी होते थे, उस बचपन के प्रति हम तो उचित बरताव करना अवश्य सीखें। जब बड़े होने पर टॉल्स्टॉय बच्चों के साथ बड़ों की तरह बरताव करने लगते होंगे, तब बचपन की याद उनकी नज़रों के सामने खड़ी हो जाती होगी, और दूसरे ही क्षण बच्चों के साथ उनका व्यवहार बदल जाता होगा। हम शिक्षक भी अपनी बाल्यावस्था को याद करें, बचपन में अपने विकास या अविकास के मूल कारणों का पता लगावें, यह समझने की कोशिश करें कि दूसरों का बचपन उनके जीवन-निर्माण के लिए कितने महत्त्व का है, और उनकी यथोचित साल-संभाल कितनी आवश्यक है? साथ ही हम अपनी कठिनाइयों को याद करके दूसरों के बचपन के प्रति अपनी दृष्टि को विशाल और उदार भी बनावें।

[६]

शाला में स्वराज्य

आज हमारे देश ही में नहीं, सारी दुनिया में स्वराज्य की पुकार मच रही है। आज तक शायद इतने ज़ोर के साथ यह बात कभी नहीं कही गई है कि मनुष्य को अपने जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले निर्णय स्वयं करने का अधिकार है। मनुष्य की आत्मा अपना विकास खोज रही है, इस विकास की खोज ही खोज में जब वह आगे बढ़ती हो, तब उसे भूल करने का भी हक़ है। आज हम इस बात को स्वीकार रहे हैं। और यह असंभव है कि हम आत्म निर्णय के इस अधिकार को केवल राजनीति तक ही सीमित रक्खें। जीवन एक अखण्ड वस्तु है। इस कारण जो नियम या सिद्धान्त उसके एक क्षेत्र में हम कबूल कर रखते हैं, वे नियम और सिद्धान्त हमें दूसरे क्षेत्र में भी स्वीकार करने पड़ते हैं। आत्म-निर्णय के इस सिद्धान्त को भी यही बात लागू होती है। मनुष्य को अकेली राजनीति ही में नहीं, धर्म, समाज, अर्थशास्त्र, यों कहिये, कि जीवन के हर क्षेत्र में यह अधिकार रहता है।

और, शिक्षा यदि जीवन की तालीम है, तो सारे जीवन में व्याप्त यह सिद्धान्त उतने ही ज़ोरों के साथ शिक्षा को भी लागू होना चाहिये। आज हमारे जीवन में आत्म-निर्णय को स्थान नहीं है, क्योंकि शिक्षा में इसे स्थान नहीं। आज की शालाओं में यदि कल के पुरुष पैदा होनेवाले हैं, तो इसकी तैयारी आज ही से शाला में शुरू की जानी चाहिये। इस दृष्टि से यदि हम यह चाहते हों कि हमारी भावी प्रजा स्वतंत्र बने, तो उस स्वतंत्रता की तालीम शाला में आज ही से शुरू करनी चाहिये। शाला में इस तरह की स्वतंत्रता को हम शाला का स्वराज्य कहेंगे।

आज हमारी राजनीति में नौकरशाही का दौर-दौरा है। हमारे समाज में पंचों का बोल-बाला है। धर्म में पुरोहितशाही का साम्राज्य है, और शालाओं में शिक्षकशाही पाई जाती है। तत्व की दृष्टि से ये सब सत्ता या 'शाहियाँ' एक हैं। यदि हमें स्वराज्य की बातें सिद्ध करनी हों,

तो हमारे जीवन के हरएक क्षेत्र से इस शाही का अन्त होना चाहिये, और इसके स्थान पर आत्म-निर्णय की स्थापना होनी चाहिये। देश में नौकरशाही को हटाकर यदि गुण्डाशाही रखनी हो, तो वह स्वतंत्रता न होगी। यह भी अभीष्ट नहीं कि अंग्रेज़शाही नष्ट हो और उसके बजाय हिन्दूशाही या मुसलमानशाही का प्रभाव बढ़े। वस्तुतः तो इन सब शाहियों या सत्ताओं को आँच में तपा कर गला डालना चाहिये और इनमें जो शुद्ध धातु बच रहे, उससे स्वतंत्रता की नई मूर्ति का निर्माण करना चाहिये। धर्म में पुरोहितशाही का अन्त और यजमानशाही का आरम्भ भी उतना ही अनिष्ट है।

व्यापारी दुनिया में आज जो सेठशाही मौजूद है, उसके स्थान पर नौकरशाही का आरंभ कोई नहीं चाहेगा। इसी तरह शाला के स्वराज्य का अर्थ शिक्षकशाही नहीं है। स्वराज्य तो तभी हो सकता है, जब प्रत्येक आदमी पूर्ण स्वतंत्रता-पूर्वक अपना विकास कर सके, और फिर भी दूसरे की स्वतंत्रता में ज़रा भी बाधक न हो।

अबतक शाला-संबंधी हमारी कल्पना में शिक्षक प्रधान वस्तु रहा है। हम शाला की अच्छी से अच्छी कल्पना करें, तो भी उसमें आदर्श शिक्षक हमारी मुख्य वस्तु होती है। इसके आगे हम विद्यार्थियों का अथवा विधेय का बहुत विचार नहीं करते।

किन्तु नई शाला की कल्पना में विधेय का विचार प्रथम किया जाता है। आदर्श शिक्षक, आदर्श पाठ्यक्रम, वग़ैरा उस विधेय के विकास के लिये आवश्यक वातावरण का काम करते हैं। आज शिक्षा की अच्छी से अच्छी भावना से प्रेरित होकर हम विद्यार्थियों के लिए पाठ्यक्रम तैयार करते हैं। उनमें रस पैदा करने के लिए पद्धतियों की खोज करते हैं। ऐसी तरकीबें तलाशते हैं कि विद्यार्थियों को खेल के साथ-साथ ज्ञान भी मिलता जाय। और, हम विद्यार्थियों को अपनी रुचि के अनुसार बनाने के लिये हर तरह के जाल फैलाते है। इसमें शिक्षक की हैसियत से हमारा

आशय चाहे जितना शुभ रहता हो, विद्यार्थी का पूर्ण कल्याण नहीं होता। हमारे वर्तमान पाठ्यक्रम, हमारी मौजूदा शिक्षण-पद्धतियाँ, हमारी आज-कल की पाठ्य पुस्तकें और शिक्षा के विषय, इन सब बातों में जबतक विद्यार्थी की आन्तरिक भूख का विचार नहीं होता, तबतक ये सब बेकार हैं।

परन्तु आज स्वराज्य की इतनी बड़ी तात्त्विक बात की लम्बी चर्चा में हम न उतरें। इस तत्त्व की दृष्टि से तो जबतक हमारी शालायें स्वातन्त्र्य और स्वयंस्फूर्ति के सिद्धान्त पर फिर से न रची जायँ, तबतक शालाओं में सच्चा स्वराज्य हो ही नहीं सकता।

आज हम इस व्यापक स्वराज्य की बात न करके कल ही से शाला में जो स्वराज्य हम दे सकते हैं, उसीका विचार करें।

शाला में शिक्षक और विद्यार्थी, ये दो जीवित तत्त्व हैं। आज शाला की सारी व्यवस्था शिक्षक के हाथ में है। विद्यार्थी जहाँ कहीं इस व्यवस्था में हाथ बँटाता है, शिक्षक की आज्ञा पाकर ही बँटाता है। हमें यह वस्तुस्थिति कल ही से दूर कर देनी चाहिये। शाला जितनी शिक्षक की है, उतनी, बल्कि उससे भी अधिक विद्यार्थी की है। भविष्य में विद्यार्थी को जिस दुनिया में घूमना फिरना है, उस दुनिया का थोड़ा सा परिचय विद्यार्थी को शाला में मिलता है। तो अपनी इस नन्हीं-सी दुनिया में विद्यार्थी जितना अधिक स्वतन्त्र रहेगा, उतनी उसकी ताकत बढ़ेगी और कल की स्वतंत्रता की वह आज नींव डालेगा। मैं जानता हूँ कि कुछ शिक्षकों को इस बात का अविश्वास रहता है, और रहता होगा, कि विद्यार्थी शाला के कामों में सक्रिय भाग ले सकते हैं, शाला में पैदा होनेवाले सवालों का खुद निर्णय कर सकते हैं, और ऐसा निर्णय करते हुए कभी फिसलें, पछाड़ खायँ तो भी धूल झाड़कर उठ सकते हैं। परन्तु ऐसा अविश्वास करना भूल है। विद्यार्थी में स्वयं कितनी ताकत है, वह निजी तौर पर छोटे-बड़े निर्णय करने में कितना बल बता सकता है, सो तो अनुभवी ही जान सकते हैं। भावनगर के 'दक्षिणामूर्त्ति' छात्रालय में आज बीस-पाईस वर्ष के

अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि जिस शिक्षक को विद्यार्थी की शक्ति में ऐसा विश्वास नहीं है, उसे समझना चाहिए कि वह अपने धन्धे का दिवालिया है। आप अपनी शाला में विद्यार्थियों को स्थान दीजिए, उन्हें ज़िम्मेदारी के काम सौंपिये, उनके निर्णय ग़लत मालूम होते हों, तो भी तत्काल उन्हें कुबूल करिये और फिर देखिये कि इस प्रकट अव्यवस्था में से कैसी सुन्दर व्यवस्था पैदा होती है। जो शिक्षक शाला में अनुशासन अनुशासन की पुकार मचाते हैं, उन्हें जानना चाहिये कि वर्तमान शालाओं का अनुशासन कोई स्वयंभू अनुशासन नहीं है, किन्तु छड़ी या डण्डे के भय से उत्पन्न अनुशासन है। शालाओं के कारण ही अभी तक दुनिया से उपद्रव और अशांति का नाश नहीं हो सका है। यही अनुशासन जब अन्दर से पैदा होता है, जब विद्यार्थी खुद ही गिरता-पड़ता, लेकिन तौल सम्हालता, पैरों पर खड़ा रहना सीख जाता है, तब उस अनुशासन का कुछ मूल्य होता है और यही सिखाने के लिए तो विद्यार्थी को आज शाला में जितनी स्वतंत्रता मिलती है, उससे अधिक स्वतंत्रता मिलने की आवश्यकता है। शाला की सफ़ाई, शाला का पुस्तकालय, वाचनालय, शाला के त्यौहार, शाला की यात्रा, और शाला की पंचायत वग़ैरा विद्यार्थियों की अपनी दुनिया में उन्हें अधिक स्वतंत्रता दे कर हम शिक्षक दूर खड़े-खड़े केवल सलाहकार का ही काम करें, तो विद्यार्थियों में स्वतंत्रता की हवा बहेगी, और आज का बोया हुआ यह बीज भविष्य में बड़ा वृक्ष बन जायगा।

मैं जानता हूँ कि आज तो विद्यार्थी भी ताज़ा छोड़े गये क़ैदियों की तरह इस स्वतंत्रता को पूरी तरह पसन्द न करेंगे, लेकिन हमें इससे घबराना न चाहिए। अगर यह चीज़ परिणाम तक अच्छी ही है, तो जैसे-तैसे हमें विद्यार्थी को इस रास्ते से ही ले जाना चाहिये। एकबार इस स्वातंत्र्य का स्वाद चखने के बाद वे कभी इसे नहीं छोड़ेंगे और भविष्य में जब कभी शाला में अवसर मिलेगा वे स्वतंत्रता-पूर्वक अपने विचार प्रकट करेंगे और

जबतक उन्हें अपने विचारों की ग़लती समझ में न आवेगी, वे उसपर डटे रहेंगे।

स्वराज्य के लिए इतनी तालीम कम नहीं। आज तो हममें इतनी भी नैतिक हिम्मत नहीं है, कि जो हमें सच्चा लगे, उसका हम आचरण करें। हमारे विचार नये से नये और अच्छे से अच्छे क्यों न हों, हमारा आचरण तो वही पुराने ढंग का होता है। भय की नींव पर खड़े किये गये हमारे इस आचरण को अगर हम शालाओं में न रहने देंगे, तो भावी समाज से यह बुराई अपने आप नष्ट हो जायगी। आज हमारे सारे देश में इस प्रकार की स्वतंत्रता की अधिक से अधिक आवश्यकता है। अतः इसके बीज-रूप में हमें शालाओं में वैसा स्वराज्य शुरू कर देना चाहिये, जिसका ज़िक्र ऊपर किया जा चुका है।

कोई यह न मान बैठे, कि शाला के स्वराज्य का अर्थ विद्यार्थियों की मनमानी है। वह तो विद्यार्थीशाही होगी। विद्यार्थियों के स्वराज्य और विद्यार्थीशाही में वैसे ही फर्क है, जैसे जनता के स्वराज्य और रैयतशाही में। हम यह जो मानने लगे हैं, कि विद्यार्थियों को स्वतंत्रता देने से विद्यार्थीशाही ही पैदा होती है, सरासर निराधार बात है। बिना विद्यार्थियों को स्वतंत्रता दिये, यह मानते रहना कि स्वतंत्रता का फल बुरा ही होता होगा, कोई शोभा की बात नहीं; यह तो एक तरह स्वयं मनुष्य की आत्मा पर अविश्वास करना हुआ। मैं तो शायद यह भी कहूँगा कि अगर शिक्षक विद्यार्थीशाही के डर से ही शाला में स्वतंत्रता देने के विरोधी हों, तो ऐसी परतंत्रता की अपेक्षा यह विद्यार्थीशाही बुरी नहीं, कुछ अंशों में अच्छी ही है।

अपनी शालाओं के कुछ व्यवस्था-सम्बन्धी कामों में आज हम इस स्वराज्य का आरम्भ कर सकते हैं। शाला की व्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ काम हम विद्यार्थियों को ही सौंप सकते हैं। कुछ शालाओं में ख़ास-ख़ास काम छात्रों से ही कराने की प्रथा होती है; लेकिन उसे हम शाला की स्वतंत्रता नहीं कह सकते। जो काम विद्यार्थियों को शिक्षकों की आज्ञा-

मात्र से करने पड़ते हैं, और जिनमें अपनी बुद्धि का उपयोग करने, ठोकर खाने और परिणाम सहने की उन्हें स्वतन्त्रता नहीं रहती, वह सच्ची स्वतंत्रता नहीं। आरंभ में शाला के विद्यार्थियों को स्वतंत्रता देते समय परिस्थिति के अनुसार हम उसे परिमित रख सकते हैं, लेकिन फिर भी लक्ष्य तो यथासमय उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता देने का ही होना चाहिये। शाला की सफ़ाई, स्वास्थ्य, नियमन, शिकायतें, समय-पत्रक, बग़ीचा, खेलकूद, वगैरा ऐसे विषय हैं, जिनमें विद्यार्थियों के स्वराज्य को अवकाश है। हमारी मौजूदा शालायें भी इतना स्वराज्य तो कल ही दे सकती हैं।

निःसन्देह शाला में पढ़ाने की वर्तमान प्रथा के बदले जबतक ऐसी व्यवस्था नहीं होती कि विद्यार्थी स्वयं पढ़ने लग जाय, तबतक वह सम्पूर्ण स्वराज्य तो नहीं कहलायेगा। आज की सारी शिक्षण-पद्धति में शिक्षक दाता है, और विद्यार्थी मात्र ग्रहीता है। इसमें कुछ न कुछ परिवर्त्तन तो बहुत ही आवश्यक है। शिक्षा का सच्चा मार्ग तो यह है कि विद्यार्थी केवल ग्रहीता बनने के बदले स्वयं अपनी राह तय करता जाय और जहाँ जरूरत पड़े शिक्षक की सहायता लेता जाय। शाला में सच्ची स्वतंत्रता उसी दिन आवेगी, जब वर्तमान शालाओं में शिक्षक पढाना बन्द करेंगे और विद्यार्थी भूख का मारा ज्ञान की टोह में निकल पडेगा।

लेकिन उस दिन की पूर्व तैयारी के रूप में भी अगर हम वर्तमान शालाओं में भिन्न-भिन्न कामों के सम्बन्ध में विद्यार्थियों को स्वतंत्रता दे दें, तो उस सम्पूर्ण स्वतंत्रता में हमारा विश्वास बढ़ेगा और शाला की सिरपच्ची के अनेक सवाल अपने आप हल हो जायँगे।

हमारी विद्यापीठें देश में शिक्षा का नूतन युग स्थापित करने चली हैं। हमें राष्ट्र में सर्वतोमुखी स्वातंत्र्य खड़ा करना है। राष्ट्र-जीवन की इस सर्वांगीण स्वतंत्रता के सोपान रूप में हम सबसे पहले विद्यापीठों की शालाओं में और फिर दूसरी तमाम सामाजिक, अर्ध सरकारी, और सरकारी शालाओं में इस स्वराज्य का श्रीगणेश आज ही से क्यों न करें?

परिशिष्ट

[अ]

शरमीले बालक

अगर कोई बालक जरूरत से ज्यादा शरमीला, डरपोक या लुक-छिपकर रहनेवाला हो, तो उसके लिए माता पिता को क्या करना चाहिये? केवल चिन्तित रहने से तो कुछ होगा नहीं। शरमीलेपन का इलाज करना आवश्यक है। पहले तो हमें इसके कारण का पता लगाना चाहिये। परिवार के दूसरे बालक शरमीले न हों, माता पिता भी विशेष रूप से शरमीले न हों, तो अकेला यह बालक ही शरमीला क्यों है? किस प्रकार के बालक अधिक शरमीले होते हैं? ज़रूरत से ज्यादा बड़े परिवार के बालक अधिक शरमीले होते हैं, या जो लड़का घर में अकेला होता है, वह शरमीला होता है? या कोई विशेष प्रकार के स्वभाववाला अथवा शारीरिक विशेषता या विचित्रतावाला बालक शरमीला होता है? ऐसे शरमीले स्वभाव के बालकों के लिये माता-पिता क्या करें, कि जिससे उनकी शरम कम हो, और उनका आत्मविश्वास बढ़े?

इस प्रकार के अनेक प्रश्न मन में उत्पन्न होने के कारण लेखक ने चालीस शरमीले बालकों का अभ्यास किया और फलस्वरूप जिस सचाई पर वह पहुँचा, वह इस प्रकार है—

पहले तो हम शरमीले बालकों के लक्षण देखें। दूसरों की उपस्थिति में जो बालक अस्वस्थ, अशान्त, या विचित्र बन जाता है, वह शरमीला कहलाता है। जो दूसरों के साथ शान्तिपूर्वक बात-चीत नहीं कर सकता, घबरा जाता है, मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगती हैं, या आँख से आँख मिलाकर बातचीत नहीं कर सकता, वह शरमीला कहलाता है। किसी अजनबी आदमी को आया देखकर जो बालक भाग जाते हैं, या अकेले ही खेलना पसन्द करते हैं, उन्हें भी शरमीला ही समझना चाहिये।

शरमीले बालकों को काफ़ी हानि उठानी पड़ती है। सबसे ज़्यादा नुक़सान तो यह होता है, कि उन्हें कोई समझ नहीं पाता। इसलिये अकसर उनके सम्बन्ध में लोगों के ग़लत ख़याल बन जाते हैं। कभी वे मूर्ख माने जाते हैं, कभी आलसी या हठीले। जब कि वास्तव में तो वे शरमीले होते हैं। जिस शाला में या वर्ग में तीस या चालीस छात्र एक-साथ पढ़ते हैं, वहाँ शरमीले बालक को बड़ा कष्ट होता है। शरमीले बालक बहुधा मन्दबुद्धि ही समझे जाते हैं। ऐसे लड़के मदरसे के लड़कों के साथ या तो हिल मिल नहीं सकते या हेल-मेल बढाना उन्हें पसन्द नहीं होता, फलतः वे अकेले रह जाते हैं, और दूसरे उन्हें डरपोक कह कर सताते हैं। शिक्षक अच्छा हो, तब तो वह ऐसे लड़कों को हर काम में दिलचस्पी लेना सिखाता है, उनके साथ कोशिश करता है, लेकिन असफल होने पर वह भी या तो अपना दोष निकालता है, या लड़कों को दोषी ठहराता है। इस प्रकार शरमीले बालक की सच्ची प्रकृति को कोई पहचान नहीं सकता। इसी कारण जब बालक अच्छा बनने की इच्छा करता है, तब लोग उसे विचित्र या एकाकी स्वभाव का मानकर उसकी अवगणना करते हैं।

यह नहीं कि बालकों का शरमीलापन! सदा उनके लिए बाधक ही होता हो। कई दफ़ा उससे उन्हें फ़ायदा भी होता है। जो लोग मातृत्व-प्रधान भावनावाले होते हैं वे इन शरमीले बालकों की तरफ जितने आकर्षित होते हैं, उतने ढीठ और वाचाल बालकों की तरफ नहीं होते। शरमीली लड़की बहुधा अधिक प्यारी और मन को चुरानेवाली होती है। शरमीले बालकों या मनुष्यों को दूसरा लाभ यह होता है, कि वे जिस-तिस आदमी के साथ दोस्ती नहीं कर बैठते; इस तरह कुछ ही लोगों के साथ उनका भाईचारा या मित्रता बँधती है, और बहुधा वह स्थायी होती है। शरमीले लोगों के ऐसे मित्र भी विश्वास-पात्र होते हैं, क्योंकि उनकी मित्रता उतावली का फल नहीं होती। बहुधा शरमीले बालक या मनुष्य

अधिक संस्कार-क्षम होते हैं, जिससे वे दूसरों को अधिक अच्छी तरह पहचान सकते हैं। वे दृढ़ मैत्री स्थापित कर सकते हैं। अभिन्न हृदय मित्र बन सकते हैं।

दूसरे, शरमीले बालक बाहरी दुनिया से अलग रहकर अकेले रहना अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए उन्हें अपने आसपास अपनी नई दुनिया पैदा करनी पड़ती है। फलतः ऐसे आदमी संगीत, चित्रकला, धर्म, वैज्ञानिक आविष्कार वगैरा विषयों के अधिक शौक़ीन होते हैं और उनमें अधिक सफलता प्राप्त करते हैं, क्योंकि मंडली-बाज़ बालकों या आदमियों को शान्ति का अथवा अपना स्वतंत्र समय बहुत कम मिलता है।

इससे इतना तो स्पष्ट है कि शरमीलेपन की वजह से बालक को सदा नुक़सान ही नहीं होता। लाभ भी होते हैं। हालाँकि माता पिताओं और शिक्षकों की दृष्टि में तो वे ही बालक अधिक चिन्तनीय होते हैं, जो ज़्यादा शरारती, शोर मचानेवाले, लड़ाकू और ऊधमी पाये जाते हैं।

ऐसे 'शरारती' लड़कों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, और उन्हें ठीक राह पर लाने की कोशिशें की जाती हैं। उधर शरमीले लड़कों की ओर शिक्षक का ध्यान जाता ही नहीं, इसलिए शिक्षक उन कठिनाइयों का विचार ही नहीं कर सकता, जो शरमीले बालकों के मार्ग में रहती हैं। अकसर हम शिक्षकों को यह कहते सुनेंगे—"फलाँ छात्र बहुत ही शान्त है। शिकायत सिर्फ़ यही है, कि उसके संगी-साथी और दोस्त बहुत थोड़े हैं। अबतक कभी भी वह विद्यार्थी-मण्डल का मंत्री या और किसी कार्य का नेता नहीं बना। लेकिन अगर उसे मौक़ा मिले, तो वह निहायत ख़ूबसूरती के साथ काम कर सकता है। फिर भी यह सच है कि वह मुझे ज़रा भी कष्ट नहीं पहुँचाता। उसके सम्बन्ध में कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता, जब कि चार-पाँच लड़के तो इतने शरारती हैं, कि सूझ नहीं पड़ता, उन्हें कैसे सुधारा जाय?" साधारणतया शिक्षकों का यही विचार रहता है। बालकों की सरलता को, उनके एकाकीपन को या ऐसी

ही अन्य बातों को वे बहुत कम महत्त्व देते हैं। यही नहीं, ऐसे बालकों को वह पसन्द करते हैं, क्योंकि वे उन्हें तकलीफ़ नहीं देते !

चालीस बालकों के अभ्यास के आधार पर शरमीलेपन के सब कारणो की या अन्तिम सिद्धान्तों की स्थापना तो कदापि नहीं की जा सकती। फिर भी इन चालीस बालकों के घरेलू वातावरण के अभ्यास से, उनकी मानसिक शक्ति और शारीरिक तन्दुरुस्ती के इतिहास का पता लगाने से, और शाला में और मित्रों के साथ के उनके व्यवहार के निरीक्षण और अभ्यास से जो चन्द दिलचस्प और महत्त्व की बातें मालूम हुई हैं, यहाँ हम उन्हींका विचार करेंगे।

इन चालीस बालकों में छ से लेकर सत्रह बरस की उम्र तक के बालक थे। इनमें तीस बालकों की उम्र दस से सत्रह के बीच की थी। अधिकतर इनके माता-पिता इस विचार से चकित थे कि इन लड़कों के कोई मित्र नहीं हैं। ये एकाकी हैं, और इसी कारण दुखी हैं। इनमें से कुछ तो बहुत अधिक डरपोक थे और कुछ बात-बात पर रोनेवाले या रोतल थे। कुछ दूसरे ऐसे भी थे, जो सच्ची दुनिया से दूर कल्पना जगत् ही में विहार करना पसन्द करते थे; और सो भी इस हद तक कि अभ्यास करते-करते उनका ध्यान बँट जाता था, और वे वर्ग में पिछड़ जाते थे। कुछ माता-पिताओं का यह विश्वास था कि यह ज़माना शरमीले और पिछड़े हुए लोगों के लायक़ नहीं है। इसलिए ये बालक जीवन में सफल नहीं हो सकेंगे। जो बचपन में शरमीले होते हैं, उन्हें जीवन-भर इसके कड़ुए फल चखने पड़ते हैं। इन माता-पिताओं का अनुभव था कि ऐसे बालक जीवन के किसी कार्य में सफल नहीं होते, और यही कारण था कि ये इन बालकों के लिए चिन्तित रहा करते थे। कुछ माता-पिता का अपना यह अनुभव था कि अगर बचपन से ही उन्होंने लोगों में हिलना-मिलना, मीठी बात-चीत करना वग़ैरा सीखा होता, तो वे अपने धन्धे में अधिक सफ़ल हुए होते। कुछ ऐसे माता-पिता भी थे, जो इस विचार से चिन्तित

रहा करते थे, कि दूसरे लड़कों का तो मदरसे में बड़ा अच्छा चलता है, और हमारे ही बालक पिछड़े हुए हैं। वे सदा अपने बालकों को औरों से मेल-जोल बढ़ाना सिखाने की चिन्ता में रहते थे।

इन बालकों के परिवारों का अभ्यास करने से पता चला कि क़रीब सैकड़ा पचासी परिवार साधारण या साधारण से कुछ ऊँचे दर्जे के थे, यानी इन परिवारों में बच्चों को खाने-पीने की तकलीफ़ नहीं थी। इनका रहन सहन साधारण मध्यम स्थिति का था, और इनके सामने आमतौर पर आर्थिक कठिनाइयों का कोई सवाल न था। बहुधा ग़रीब कुटुम्ब के बालक अपनी ग़रीबी की वजह से शरमीले होते हैं। काफ़ी या ज़रूरत के मुताबिक़ कपड़े न मिलने से, रहन-सहन में फ़र्क़ रहने से, हाथ-खर्च के लिये काफ़ी पैसे न मिलने से बालक शरमाने लगता है। खासकर जब ऐसे बालक अपने से अधिक खुशहाल बालकों के मदरसे में जाते हैं, तो उनपर इसका ज़्यादा असर पड़ता है। इसी तरह अनाथालयों में रहनेवाले बालकों में और सौतेली माँ के साथ रहनेवाले बालकों में आत्म-विश्वास की कमी पाई गई है। जहाँ माता पिता स्वयं ही कम मिलनसार होते हैं, वहाँ बालकों को भी नये आदमियों के साथ हिलने मिलने का बहुत कम अवसर मिलता है, और फलतः ऐसे बालक आसानी से शरमीले बन जाते हैं, या शरमीले दिखाई पड़ते हैं। हालाँकि अकसर लज्जा-शील माता पिता अपने बच्चों को मिलनसार बनाने की खास कोशिश करते रहते हैं। वे जानते हैं कि उनके शरमीले-पन की वजह से उन्हें कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी हैं, और पड़ती हैं। लेकिन कभी-कभी इसका उलटा परिणाम भी होता है। बालक अपने शरमीलेपन से चौकन्ना रहने लगता है, और माता-पिता के प्रयत्नों में सफलता नहीं मिलती। लेकिन ऐसे उदाहरण इने गिने ही होते हैं। साधारणतया तो इन चालीस बालकों में यह देखा गया कि परिवार के दूसरे सब बालक अधिकतर अच्छे और समधारण हैं, जब कि एकाध बालक विशेष रूप से शरमीला है, यानी साधारण कौटुम्बिक वातावरण

वही है, दर्जा वही है, माता-पिता वही हैं, और फिर भी बालकों के स्व-भाव में अन्तर है। व्यक्तिगत रूप से इसकी जाँच करने पर पता चला कि जो लोग इन शरमीले बालकों से मिलते थे, उनका व्यवहार कुटुम्ब के दूसरे लड़कों की अपेक्षा इनके साथ कुछ दूसरा ही होता था।

इन चालीस बालकों की मनोवैज्ञानिक जाँच करने पर मालूम हुआ कि लगभग सैकड़ा अस्सी बालक सामान्य समधारण बुद्धि के अथवा उससे भी अच्छी बुद्धि के थे। मामूली से कम बुद्धि के बालकों को मामूली अभ्यास करना पड़ा, और उसमें उन्हें सफलता न मिली। बस, दुनिया की टीका टिप्पणी से बचने के लिए, वे दुनिया से अलग रहे, और शरमीले बने। उनके लिए यह बिलकुल स्वाभाविक था। लेकिन अच्छे और बुद्धिमान लड़के भी शरमीले थे, इसी कारण शिक्षकों को उनकी बुद्धि-शक्ति का पता न चला। वे कहते थे, हम हैरान हैं, कि इन लड़कों को किस दर्जे में रक्खा जाय।

मनोवैज्ञानिक भी बड़ी मुश्किल से और बहुत ही सावधानी के बाद यह पता लगा सके कि बुद्धि उनकी बहुत ही अच्छी थी, परन्तु उनसे किसी सवाल का जवाब पाना ही मुश्किल था।

घर में शरमीले बालकों के स्थान को जाँच करने पर मालूम हुआ कि सैकड़े चालीस बालक अपने माता पिता की पहली सन्तान थे, यानी सब-से बड़े बालक थे। जो सबसे बड़े बालक न थे, उनमें भी कई अपने साथ के जोड़ीदार बालकों से बड़े थे—लगभग चार पाँच साल बड़े थे। इसपर से यह सोचा गया कि शायद पहला बालक दूसरे बालक के आने तक, अर्थात् दो-चार साल तक घर में अकेला ही होता है, और फलतः माता-पिता का सारा ध्यान उसी पर एकाग्र रहता है। बाद में जब ऐसा बालक शाला में या दूसरी जगह दूसरे बालकों के साथ हिलता-मिलता है, तब उसके साथ दूसरों के बराबर ही व्यवहार किया जाता है। और, उसी समय घर पर भी दूसरा बालक आ पहुँचता है, जिससे उसकी ओर सहज

ही ध्यान कम दिया जाता है। इसका नतीजा यह होता है कि वह जेठा बालक मन ही मन घबराने लगता है। उसे ऐसा मालूम पड़ता है, कि कोई उसे प्यार नहीं करता। बस, बालक धीरे-धीरे आत्म-विश्वास खोने लगता है। बहुधा माँ जेठे बालक को छोटे की हाथगाड़ी घुमाने या उसे खेलाने, देख-रेख रखने और ऐसे दूसरे काम करने को इस तरह बार-बार कहती है, कि जेठा बालक अपने को छोटे बालक से हलके दर्जे का या उसका नौकर समझने लगता है। इस कारण भी जेठे बालक शरमीले और एकाकी बनते हैं। दूसरा एक कारण यह भी हो सकता है, कि माता-पिता पहले बालक के समय में उनके साथ उचित व्यवहार करना नहीं जानते। इस लिए झूठी ना, और झूठी हाँ, अधिक दुलार या अधिक दुत्कार वग़ैरा सब इस जेठे बालक को सहन करना पड़ता है। नौसिखुए या अनजान माँ-बाप अनुभव से धीमे-धीमे सयाने बनते हैं, और बालकों के साथ उचित व्यवहार करना सीखते हैं। इसका लाभ बाद के बच्चों को मिलता है। इस कारण भी जेठा बालक अस्वाभाविक रूप से शरमीला बन जाता है। माता-पिता जिस प्रकार कभी 'हाँ' कहते हैं, कभी झिड़क देते हैं, कभी दुलार करते हैं, उसी प्रकार बालक भी अपने कार्य के सम्बन्ध में सदा सशंक रहता है, और फलतः डरपोक और शरमीला बनता है। अथवा कभी-कभी ऐसा बालक विरोधी भी बन जाता है, और हठ पकड़ लेता है। बहुधा ऐसे डरपोक और शरमीले बालक ही शरारती दिखाई पड़ते हैं। वजह यह है कि जहाँ डर नहीं होता, वहाँ भी वे डर जाते हैं और विरोधी बन जाते हैं, जब कि उन्हें ऐसा करने की ज़रूरत बिलकुल नहीं होती।

बालक के शरमीलेपन का कोई एक ही कारण नहीं होता। घर के और घर-बाहर के ऐसे अनेक तत्त्व इकट्ठा होते हैं, जो बालक पर एक विशेष प्रभाव डालते हैं, जिनके कारण बालक समूह-जीवन से भागता-फिरता है, डरता है, और शरमाने लगता है। बालक की अपनी रुचि कुछ हो, और बड़े-बूढ़े या शिक्षक कुछ और कहते हों, तो रात-दिन के

इस संघर्ष के कारण, या दूसरे अधिक अच्छे और यशस्वी माने जानेवाले बालकों के साथ घर पर या शाला में सदा तुलना की जाने के कारण, बालक डरपोक बन जाता है। इस प्रकार की तुलना करने की बहुत ही बुरी आदत बड़ों में हुआ करती है। कोई बालक अधिक सुन्दर या खूबसूरत हो, और कोई कम खूबसूरत या बदसूरत हो, तो फौरन ही सुन्दर बालक के साथ उनकी सदा तुलना की जाती है। घर पर जो कोई भी आता है, क्या मेहमान और क्या रिश्तेदार, सब बालकों के सामने यही कहा करते हैं—'इसकी आँखें अच्छी हैं, और इसकी तो ऐसी ही हैं'। 'इसकी नाक सुन्दर है, और इसकी, ऊँह्'। इस प्रकार जो खूबसूरत होता है, उसकी तारीफ़ करना और जिसके अवयव या कद बेडौल हो, उसका अपमान करते हुए इस तरह मुँह बनाना कि उसका मन दुखी हो, बहुत ही गन्दी आदत है, और इसका बालकों पर अत्यन्त बुरा असर पड़ता है। रूप-रंग की तुलना और तारीफ़ की तरह योग्यता और होशियारी वग़ैरा की भी निन्दा-स्तुति हुआ करती है। किसी अच्छे गानेवाले या मदरसे में इनाम पानेवाले बालक का भाई या बहन होना तो बच्चों के लिए बहुत ही कठिन हो जाता है; क्योंकि सब सदा साथ ही रहते हैं, तो भी गाना जाननेवाले को सब प्यार से बुलाते हैं, उससे गवाते हैं, उसके अभ्यास की बातें करते हैं, जब कि इसे (दूसरे को) कोई पूछता तक नहीं। इसे सदा अपने साथी की तारीफ़ सुननी पड़ती है; घर पर किसी मेहमान या मिलनेवाले के आने पर घरवाले भी सदा उसीकी बातें करते हैं, इसकी कोई चर्चा तक नहीं करता। यह सब देखकर बालक बहुत ही निरुत्साह, दब्बू और अन्त में शरमीला बन जाता है। ऐसी तुलना अकेले घर के बालकों में ही होती हो; तो भी गनीमत है। दुर्भाग्य से अड़ोसी-पड़ोसी के बालकों और मित्रों के बालकों के साथ भी ऐसी तुलना होती ही रहती है, जिससे बालक अधिकाधिक निरुत्साह बनता जाता है।

अकसर बालकों को सही-सलामत रखने के लिए और उनके सहा-

यक बनने की इच्छा से माता पिता बच्चों की जरूरत से ज्यादा हिफ़ाज़त करते हैं। उनका सब काम खुद ही कर देते हैं। कठिनाई का सामना उन्हें करने ही नहीं देते, या ऐसा प्रयत्न करते हैं कि बालक को कोई कठिनाई पड़े ही नहीं। बालक को अपनी नज़र से दूर, अकेले, पराये लड़कों के साथ खेल भेजना भी उनके लिए मुश्किल हो जाता है। इसमें शक नहीं, कि ऐसा करना जोखिम उठाना है। पर बालकों के लिए यह आवश्यक है। अपनी उम्र के दूसरे बालकों के साथ हिलना-मिलना बच्चों को बचपन ही में सीख लेना चाहिए। इसी तरह संदेश या चिट्ठी पत्री भेजने का काम खुद कर लेने में या दूसरे बड़े बालक से कराने में माता-पिता को आसानी रहती है। फिर भी छोटी उम्र में बच्चों को ऐसे काम करने के अवसर देकर उन्हें स्वतंत्र बनाना चाहिये।

विशेष कठोरता, या सख्ती, ज्यादा हिफ़ाजत, बार-बार सज़ा की धमकी वगैरा से बालकों का आत्मविश्वास कम होता जाता है। किसी भी समय क्या करना, इसकी उन्हें सूझ हो नहीं पड़ती, या अपने कार्य के औचित्य के सम्बन्ध में उन्हें सदा शंका बनी रहती है, जिससे वे घर के बाहर या दस आदमियों में जाना पसन्द नहीं करते और ऐसा करते-करते ज़रूरत से ज़्यादा शरमीले बनते जाते हैं।

अकसर देखा जाता है, कि माँ-बाप बच्चों के सामने ही अनेक अनुचित बातें कहा करते हैं, जिनका बालकों के मन पर बहुत बुरा असर होता है। कुछ माँ-बाप बच्चों के पालन-पोषण में होनेवाले खर्च का ज़िक्र किया करते हैं। कुछ बच्चों के कारण उन्हें होनेवाली तकलीफ़ का रोना रोया करते हैं; या यह कहा करते हैं, कि लड़की के बदले लड़का आया होता, तो ठीक था। हम तो लड़का चाहते थे। यह सब सुनकर बालक मन में सोचने लगता है, कि मैं पैदा न हुआ होता, तो अच्छा था। या यह कि माता-पिता मुझे नहीं चाहते। बस, इन बातों से उसका मन अस्थिर रहने लगता है। वह डरपोक और शरमीला बन जाता है।

ये तो माँ बापों या बड़े बूढ़ों की ओर से पैदा जानेवाली बातें हुईं। इनके सिवा, बालक अपनी निज की ऐब के कारण भी शरमीला बन जाता है। जैसे, किसी बालक का लँगड़ा लूला या काना होना, दिखने में विचित्र होना, नाक-कान का बेडौल होना, लड़का होते हुए भी लड़की-सा दिखाई पड़ना या लड़की होते हुए भी हाथ पैर, आवाज़ और शरीर का आकार-प्रकार लड़के की तरह होना। ऐसे बालक स्वभावतः शरमीले होते हैं, यानी वे चार आदमियों के सामने आना पसन्द नहीं करते।

अब बड़े यानी १२ वर्ष से अधिक उम्र के शरमीले बालकों के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखकर इसे समाप्त करूँगा। इन चालीस बालकों के अभ्यास से पता चला कि बड़ी उम्र के जो बालक शरमीले थे, उनके शरमीलेपन का बीजारोपण या उसका आरम्भ बचपन ही में हो चुका था। इस उम्र में बालक बड़ी फुर्ती के साथ क़द में बढ़ने लगते हैं। इसलिए जो बालक पहले ही से कुछ डरपोक होते हैं, वे अपने एका-एक बढ़ जाने से भी मन में सकुचाने लगते है और अशान्त रहने लगते हैं। लड़कों या लड़कियों को दस आदमियों के बीच यह कहना कि कितना ऊँचा, ताड़-सा, बढ़ गया है? हाथ-पैर कैसे बड़े-बड़े हो गये हैं? मुँह पर मुँहासे कितने बढ़ गये हैं? और कन्धे क्यों झुक गये हैं? उन्हें अपमानित करना है। वे बेचारे कुछ कह नहीं सकते, घबरा ज़रूर जाते हैं। उनको यह पता ही न चलने देना चाहिये कि मण्डली में वे ही सबसे ज़्यादा सबका ध्यान खींचनेवाले हैं। किसी भी बड़ी उम्र के शरमीले बालक के प्रति इस प्रकार का असभ्य और उसे शरमानेवाला व्यवहार कभी उचित नहीं कहा जा सकता। ख़ासकर उन बालकों के प्रति तो यह सर्वथा त्याज्य है, जो अभी बढ़ रहे हैं; एक-अवस्था से दूसरी में प्रवेश कर रहे हैं।

बालकों के शरमीलेपन को मिटाने के इलाज तो अधिकतर माता-पिता को ही करने चाहियें। अधिकतर दारो-मदार इसी पर है, कि माता पिता बालकों के साथ कैसा व्यवहार करते हैं। अगर माता-पिता चाहें कि

बालक के एक बार बने हुए स्वभाव को बदल कर उसे एकदम भिन्न प्रकार का बना दें, तो यह असम्भव है। शरमीले बालक की शर्म छुड़ाने के लिए उसे एकदम आगे धकेलना उचित नहीं।

दस आदमियों में अपने बालक को होशियार और तेजस्वी न पाकर माँ-बाप शरमाते हैं; इसमें वे अपनी हेठी समझते हैं। फलतः वे ज़बर्दस्ती बालकों को आगे धकेलते हैं। लेकिन इसका बहुत ही बुरा और गंभीर परिणाम होता है। बेहतर तो यह है कि उन्हें धीमे धीमे आगे बढ़ाया जाय। अगर बालक को चार आदमियों के सामने कुछ कहने में शरम लगती हो, तो पहले घर के आदमियों या विशेष जान-पहचानवालों के सामने उसे बोलने का मौका देना चाहिये। एकदम अपरिचित और अनजान आदमियों के सामने आकर वह उन्हें नमस्कार भी कर ले और लौट जाय तो भी काफ़ी समझना चाहिये। मान लीजिये कि आपका छोटा बालक दस जनों के साथ में उठना-बैठना पसन्द करता है और अच्छी तरह बात-चीत भी कर सकता है, लेकिन बड़ा वैसा नहीं कर सकता, तब ऐसी दशा में आपको यह आग्रह ज़रा भी नहीं करना चाहिये, कि छोटा बड़े की तरह बने या बड़ा छोटे की तरह व्यवहार करे। दोनों अलग-अलग व्यक्ति हैं। दोनों का अपना व्यक्तित्व भी हो सकता है। इन दोनों की एक-दूसरे से तुलना करने से शरमीला बालक अधिक शरमाने लगता है। इसकी अपेक्षा तो बालक की तुलना उसीके साथ की जाय, तो अच्छा। बालक मिलन-सार बनने की कोशिश करता हो, तो हम उसे यह कह सकते हैं, कि 'अब-की तुम खूब मिले—बहुत अच्छा किया' वग़ैरा। 'कल की अपेक्षा आज तुम अच्छे तैरे। खूब तरक्की की।' इस तरह की उत्साह-भरी बातें कहने से बालक दूसरे दिन दूना उत्साह और हिम्मत बता सकता है। बजाय इसके, अगर यह कहा जाय कि 'आज तुमने तैरते वक्त अच्छे हाथ पैर मारे, पर अभी तुम्हारे भाई की तरह होशियार बनने में कई दिन लगेंगे।' तो दूसरे दिन वह कल के जितना भी नहीं तैरेगा। लोगों का ख़याल होता है, कि बालकों में स्पर्धा

या होड़ के भाव पैदा करने से वे अधिक अच्छा काम करेंगे, इसी कारण वे बच्चों को इस प्रकार का झूठा उत्साह दिलाया करते हैं, पर यह लोगों की भूल है; इससे बालकों का अधिक नुक़सान होता है। बालक आगे बढ़ने की अपेक्षा पीछे हटने लगता है। साथ ही जो बालक वास्तव में पिछड़ा हुआ है, उसे झूठा जोश दिलाने के लिए, यों ही, 'बहुत अच्छा' 'शाबास', वग़ैरा कहकर उसकी तारीफ़ करना भी अनुचित है। तैरने में कुछ तरक्क़ी न की हो, तो उस सम्बन्ध में चुप ही रहना ठीक है। यदि कुछ कहना ही हो, तो किसी दूसरे काम में उसने कोई होशियारी बताई हो, तो उसकी तारीफ़ की जा सकती है।

सरांश हमें बालक को धीरे-धीरे स्वतन्त्र बनने और उन्नति करने में मदद पहुँचानी चाहिये। छोटी उम्र में ही बालक को अपने से अलग करके दूसरे बालकों के साथ खेलने में लगा देना चाहिये। यानी आपके घर दूसरे बालक के आने से पहले ही यदि आपके बालक के जीवन का दूसरा द्वार खुल जाय, तो उसे एकाएक आपसे अलग होने और एकाकी रह जाने से जो धक्का पहुँचता है, वह न पहुँचे साथ ही, आरम्भ ही से साथियों के साथ खेलने कूदने और रहने-सहने की आदत पड़ जाने से फिर बालक को न तो माता पिता की लापरवाही अखरती है, न छोटे बालक के प्रति उनके प्रेम को वह उनका पक्षपात ही समझता है।

अगर बालक बचपन ही में दूसरे बालकों के साथ खेलना और हिलना-मिलना सीख जाय, तो आठ-नौ साल की उम्र में उसके लिए अपने मदरसे के संगी-साथियों से मिल-जुल जाना कठिन न हो। इसलिए बचपन ही से उसे दूसरे बच्चों के साथ खेलने देना चाहिये।

शरमीले बालक की शरम तोड़ने में एक बात महत्त्व की है। इस बात का पता लगाकर कि कौनसा काम उसे खूब पसन्द है, उसे उसीमें अधिक उन्नति करने का अवसर दिया जाना चाहिये। इससे एकाध तो उसे ऐसा मिल जाता है,जिसके सम्बन्ध में उसे पूरा आत्म-विश्वास

रहता है। फिर भले वह काम चाहे जो हो—तैरना हो, या पेड़ पर चढ़ना हो, बंसी बजाना हो या गाना हो। उसे ज़रूर यह अनुभव होगा कि कम से कम एक विषय में तो वह किसी से कम नहीं है। एकाध काम में प्रवीणता प्राप्त कर लेने पर, और उसमें आत्म-विश्वास और संतोष बढ़ा चुकने पर बालक दूसरे कामों में भी उन्नति करने की कोशिश करेगा। और ऐसा करते-करते उसकी शर्म और उसका डरपोकपन कम होता जायगा, उसकी झिझक मिटती जायगी।

"रस्किन का कथन है, कि जो शिक्षा सच्ची है, वही शिक्षा लेनी चाहिए। इस जगत् में मनुष्य-मात्र को तीन पदार्थों की आवश्यकता है, और तीन गुणों की। जो इनको प्राप्त करना नहीं जानते, वे जीवन का मंत्र ही नहीं जानते। इसलिए ये छः चीज़ें शिक्षा की नींवरूप होनी चाहिएँ। इसीलिए मनुष्य-मात्र को बचपन से, फिर वह बालक हो या बालिका, यह जानना ही चाहिए, कि साफ़ हवा, साफ़ पानी, और साफ़ मिट्टी किसे कहा जाय, इन्हें कैसे रक्खा जाय, और इनका क्या उपयोग किया जाय। इसी तरह तीन गुणों में गुणज्ञता, आशा और प्रेम गिनाये जा सकते हैं। जिनमें सत्य आदि के लिए सम्मान नहीं, जो अच्छी चीज़ को पहचान नहीं सकते, वे अपने ही गर्व में फूले फिरते हैं, और आत्मानन्द नहीं पा सकते। इसी तरह जिनमें आशावाद नहीं, अर्थात् जो ईश्वरीय न्याय के विषय में सशंक रहते हैं, उनका हृदय कभी प्रफुल्लित नहीं रह सकता। और जिनमें प्रेम नहीं, अर्थात् अहिंसा नहीं, जो जीव मात्र को अपना कुटुम्बी नहीं मान सकते वे कभी भी जीवन के मंत्र को सिद्ध नहीं कर सकते।"

—रस्किन पर गांधीजी

अपूर्ण बालक

साधारणतया किसी भी आदर्श कक्षा या शाला में जहाँ समान धारणा-वाले बालक काम करते हैं, बालकों की व्यवस्था अथवा नियंत्रण का सवाल ही खड़ा नहीं होता। जब शिक्षक को बालकों के साथ पुलिस या न्यायाधीश की तरह पेश आना पड़ता है, तब यह समझ लेना चाहिये, कि शिक्षक का, बालक का, या परिस्थिति का कोई न कोई दोष अवश्य है। पैदा होनेवाली अनिष्ट परिस्थिति को दूर करने के लिए शिक्षक अकसर तरह-तरह की युक्ति-प्रयुक्तियों से काम लेता है। इससे कुछ समय तक काम ढंग से चलता दिखाई पड़ता है, लेकिन फिर वही 'रफ्तार बेढंगी, जो पहले थी, सो अब भी है।' वास्तव में तो शिक्षक को परिस्थिति को दबाने, छिपाने या दूसरा रूप देने की अपेक्षा उसके कारणों की तह में उतरना चाहिये। जो शिक्षक ऐसा नहीं करता, वह अपने छात्रों को समाजिक या नैतिक या किसी भी प्रकार की ऊँची तालीम नहीं दे सकता। असमधारण या अपवाद-रूप बालक एक अजब पहेली हैं। उनकी शिक्षा का सवाल अधिक बारीकी से विचारने योग्य है। शिक्षक को शास्त्रीय दृष्टि से उनका अवलोकन करना चाहिये। तटस्थ भाव से देखने के बाद जो कुछ करना उचित जान पड़े, वह बालक के लिये हानिकर न हो, तो किया जाना चाहिये। जिस तरह बालक को गिनना या पढ़ना न आने पर शास्त्रीय दृष्टिवाला शिक्षक उसके कारण का पता लगाता है, वैसे ही बालक के दूसरे मानसिक दोषों के कारण का भी पता लगाना चाहिये। शिक्षक को समझना चाहिये कि शिक्षण बेकार है, सिवा इसके, कि बालक अपनी इच्छा से अपने मन पर समझ-बूझ कर अंकुश रक्खे। शिक्षक याद रक्खे कि बेहूदा आलसी, लापरवाह, ठग, निकम्मा वग़ैरा शब्दों का असर अच्छा पड़ने के बदले ख़राब ही पड़ा करता

है। साथ ही शिक्षक को यह भी याद रखना चाहिये कि 'यह न करो,' 'वह न करो,' आदि निषेध-वाचक प्रयोगों से भी कोई मतलब सिद्ध नहीं होता। शिक्षक को बालकों की कमज़ोरियों के सम्बन्ध में टीका या चर्चा भी न करनी चाहिये; इसलिए नहीं कि इस तरह उन्हें डराना अनुचित है, बल्कि इसलिए कि इससे उन्हें सुधारने का काम और भी मुश्किल बन जाता है। शिक्षक को उपदेश करने या नीति समझाने का काम कम से कम करना चाहिये। ऐसा करने से बालकों की नैतिक भावना और संस्कारिता जल्दी मन्द हो जायगी और वे बिना कारण असभ्य और बेचैन होंगे। जिस पद्धति से शिक्षक वाचन या लेखन सुधार का काम शास्त्रीय रीति से करता है, उसी पद्धति का नैतिक सुधार के काम में भी उपयोग करना चाहिये।

कभी-कभी शाला में और घर में बालकों को लेकर जो कठिनाइयाँ खड़ी होती हैं, जो न चाहने योग्य व्यवहार उनके आचरण में दिखाई देता है, यदि हम उसके कारण, परिस्थिति और संभाव्य उपायों को जानते हों, तो शिक्षण और बाल-संगोपन के काम में हमारा मार्ग सरल बन जाय!

नीचे बालकों के सम्बन्ध की कठिनाइयों को दूर करने में सहायक होनेवाला एक नक़्शा दिया गया है। इसके लिए हम श्रीयुत् चार्ल्टन वॉशबर्न और 'न्यू इरा' के सम्पादक के आभारी हैं।

इस नक़्शे के पाँच हिस्से हैं। पहले में बालक के माने जानेवाले दोष हैं। दूसरे में इन दोषों के कारणों का उल्लेख है। तीसरे में उन परिस्थितियों का ज़िक्र है, जिनसे ये कारण पैदा होते हैं, और चौथे में इन्हें दूर करने के उपाय बताये गये हैं। अन्तिम हिस्से में यह बताया है कि किन-किन कारणों से बालकों का आचरण और भी ख़राब होता जाता है।

इस नक़्शे से हमें पता चलेगा कि आज दोषों को दूर करने के बदले हम अधिकतर ऐसे ही उपायों से काम लेते हैं, जिनसे दोष बढ़ते या गंभीर बनते हैं। नक़्शे का अन्तिम हिस्सा इसका साक्षी है।

...ाओं के प्रकार	सम्भवित कारण	कारणभूत परिस्थिति	उपचार	अशुद्ध उपचार
१ ज़रूरत से ज़्यादा शोर-गुल	क—अनुकरण या सूचन	शोरगुलवाली जगह	शान्ति	छड़ी पछाड़ना या घंटी बजाना
		ज़ोर की आवाज़	धीमी आवाज़	तानकर गुस्से से बोलना
		जोशीला वातावरण	स्वास्थ्य (Poise)	उलाहना देना
				ललचाना
				सबके सामने टीका करना
	ख—स्नायुओं की थकावट	प्रतिकूल बैठक	अनुकूल बैठक	'शोर हो रहा है' कहना
				धमकाना; चुप !
		अपर्याप्त प्रवृत्ति	प्रवृत्ति	
	ग—ज्ञान-तन्तुओं की थकावट	अपर्याप्त आराम	शारीरिक आराम	
		अनुचित खूराक	अच्छी खूराक	
		थकानेवाला काम	कार्यक्रम में हेरफेर	एक ही प्रकार का काम देते रहना
	घ—ख़राब हवा	हवा की कम आमदरफ्त	अधिक ताज़ा हवा	
	च—उद्दण्डता या हठीलापन	अपने सम्बन्ध का ऊँचा ख़याल	दूसरों की मदद करना	प्रकट में उलाहना

	ञ–ध्यान खींचने की इच्छा	अनुचित महत्व दिया जाना	दूसरे का ख़याल कराना	दिल दुखाना पक्षपात करना
	ज–घबराहट	डरपोकपन	स्वास्थ्य	और नाराज़ होना
	झ–अस्वस्थता	अव्यवस्थित कमरा या डेस्कें	सुव्यवस्था	प्रकट में दिखाई पड़नेवाली निरर्थक चीज़ों का संग्रह
१ समय का दुरुपयोग या आवारापन	क–विकासक हेतु का अभाव	रास्ता नहीं सूझता	विविध प्रवृत्तियाँ सुझाना	प्रवृत्ति में ज़बर्दस्ती लगाना
	ख–आगे बढ़ने की अनिच्छा	काम से असन्तोष	अच्छा काम और सच्चा प्रोत्साहन	टीका करना
		अत्यन्त सहल काम	अधिक दिलचस्प काम देना	एक ही काम को बारबार कराना
	ग–ज़िम्मेदारी का अभाव	दूसरों ने चिन्ता रक्खी	ज़िम्मेदारी सौंपना	शिक्षक का खुद ज़िम्मेदारी लेना
	घ–तुलनाशक्ति की कमी	दूसरों ने निर्णय कर दिया हो	तुलना और निर्णय कराना	शिक्षक का निर्णय कर देना
	च–स्वरचित योजना का अभाव	दूसरों ने योजना बना दी हो	स्वयं योजना बनाना और रास्ता खोजना	शिक्षक का योजना बनाकर देना
	छ–क्रियाशक्ति की कमी	दूसरों ने निर्णय कर दिया हो	स्वयं निर्णय करना	शिक्षक का निर्णय करना

		क्रियाशक्ति कमजोर हो		
	ज—विरोधी आकर्षण	शाला का नापसन्द काम	मनचाहा काम पसन्द करना	ज़बर्दस्ती कराना
		न चाहनेयोग्य मित्र	माता पिता को ध्यान देना चाहिये	धिक्कारना
		बुरी आदतें	माँ-बाप और नौकरों को ध्यान देना चाहिए	
	झ—ध्यान खींचने की इच्छा	दंभी और स्वार्थी बनने की आदत	दूसरों का विचार करना सिखाना	सबके देखते उलाहना देना
			महत्त्व न देना	दोष निकालना
	ट—ज्ञान-तंतुओं की थकावट	अपर्याप्त पोषण	अच्छी खुराक	
		अनियमित जीवन	नियमितता	
		ज्ञान तंतुओं की अस्थिरता	वारवार आराम देना	
३ बारबार मदद माँगना	क—परावलम्बन	दूसरों ने निर्णय कर दिया हो	आत्मनिर्णय	शिक्षक का निर्णय कर देना
	ख—ग़ैर ज़िम्मेदारी	दूसरों ने संभाल रक्खी हो	ज़िम्मेदारी	शिक्षक का ज़िम्मेदारी लेना
	ग—अपने में अविश्वास	निराशा	सन्तोषकारक प्रवृत्ति	अधिक निराशा पैदा करना
	घ—स्वाभिमान का अभाव	प्रकट में निन्दा या टीका	व्यक्तिगत प्रोत्साहन	प्रकट में अधिक टीका करना

	च—आलसीपन	अपर्याप्त पोषण	अच्छी खुराक	अचार, मादक पेय, मिठाइयाँ वग़ैरा
		मानसिक मन्दता	प्रवृत्ति	मन्द करके रखना
		अपर्याप्त व्यायाम	उचित व्यायाम।	आलसी कहकर चिढ़ाना
		अपर्याप्त आराम	आराम	
		आहार निद्रा की अनियमितता	नियमितता	
	छ—क्रियाशक्ति का अभाव	दूसरों ने कर दिया हो निर्बल क्रियाशक्ति	स्वयं काम करने देना	शिक्षक का कर देना
३ प्रगति	क—यह विश्वास कि निराश होना पड़ेगा	प्राप्त निष्फलता	सन्तोषकारक काम	अधिक निराशा 'मन्द' या 'सुस्त' कहकर टोकना
	ख—आत्म-विश्वास की कमी	टीका टिप्पणी	प्रोत्साहन	दूसरों के साथ तुलना
	ग—अपूर्ण तैयारी	ऊँचे नम्बर पर चढ़ा दिया गया हो	उचित स्थान पर बैठना	सबक याद कराना
	घ—काम में अनुत्साह	शिक्षक प्रेरित	स्वयंप्रेरित	शिक्षक की प्रेरणा
	च—क्रियाशक्ति का अभाव	ज़िम्मेदारी दूसरों की हो	ज़िम्मेदारी सौंपना	करा लेना
		क्रियाशक्ति की कमज़ोरी	आत्मनिर्णय	शिक्षक का निर्णय कर देना

छ—महत्वाकांक्षा का अभाव	काम में या काम करने में असन्तोष	अच्छा काम और प्रोत्साहन	उत्साह भंग करना
ज—मुहर्रमीपन	अहंता-प्रधान	दूसरों की पर्वा करना	उपदेश करना
		सिखाना	
		विनोद	
झ—असावधानी	नीरस काम	काम का हेरफेर	'असावधान' कहना
		शारीरिक जाँच	
ट—अस्वस्थ शरीर	अयोग्य खूराक	अच्छी खूराक	अचार, मादक पेय, मिठाइयाँ वग़ैरा
	अपर्याप्त व्यायाम	व्यायाम	रोक रखना
	अपर्याप्त आराम	आराम	
	अनियमितता	नियमितता	नाटक, सिनेमा अधिक देखना
ठ·विस्मृति	नीरस काम	विषय को समझाने की विविधता	'भुलक्कड़' कहना
	विचार-साहचर्य की मन्दता	प्रत्यक्ष अनुभव	
ड—वालिशता	ऊँची कक्षा में चढ़ाना	नीची कक्षा में उतारना	ऊँची कक्षा में चढ़ाना

		अविकसित मानस		
५ डरना	क—परिणाम का भय	दूसरों का मज़ाक	सन्तोषकारक काम	'लुचा' कहना
		दूसरों की टीका	प्रोत्साहन	प्रकट में बुरा-भला कहना
		अयोग्य दण्ड	स्वाभाविक दण्ड	
		नापास होना	प्रगति का उचित निर्णय करना	अधिक नापास करना
	ख—अपने में अविश्वास	काम स्पष्टतया बताया न गया हो	प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहन करना	टीका-व्यंगोक्ति
		अधिक ऊँचे नम्बर पर चढ़ा दिया गया हो	उचित स्थानपर रखना	चढ़ाना
	ग—जैसे तैसे काम पूरा करने की आदत	वैसा चला लिया गया हो	व्यक्तिगत काम सौंपना	ऐसे काम की तारीफ़ होती हो
	घ—नक़ल करने की आदत	अनुकरण और नक़ल करना	रचनात्मक काम की योजना	नक़ल कराके पढ़ाई चालू रखना
	च—जवाब देने के लिए ही काम करने की आदत	यह धारणा कि घटनायें जान लेनी ही शिक्षा है	विकासक उद्देश्य रखना	सिर्फ़ जवाब देखकर ही नंबर देना
	छ—स्वाभिमान की खामी	काम का हल्का होना	प्रोत्साहन	हल्की टीका करना

	ङ—बड़ा काम करने का शौक़	सौंपे गये काम का खूब आसान होना	कठिन और अधिक दिलचस्प काम सौंपना	ऐसी कठिनाई पैदा कर देना कि ठगना असम्भव होजाय
६ दुराग्रह या चिड़चिड़ापन	क—ईर्ष्या	अनुचित निर्णय		
		परिवारवालों को रस या प्रेम न हो	बालक के प्रति ममता बताना	निन्दा
		भाई, बहन या शाला के साथियों के साथ पक्षपात किया जाता हो		दूसरे की तारीफ़
	ख—बात बात में उत्तेजित हो उठना	सबके सामने टीका दोष निकालना	सहानुभूति प्रोत्साहन	प्रकट में निन्दा
	ग—तिरस्कार-युक्त अनादर	टाँग अड़ाते रहना अफ़सरी चलाना	टाँग न अड़ाना स्वातन्त्र्य	सलाह और रहनुमाई
	घ—दुखीपन	कलहपूर्ण घर	चिन्ता-सावधानी	व्यंगोक्ति
		बाहरी कठिनाईयाँ	ममता	कठोरता
		मैत्री का अभाव		
	च—टेक पर डटे रहना	अति बलवान क्रियाशक्ति	स्वानुभव	अफ़सरी चलाना

	छ—स्वार्थीपन	अति निर्बल क्रियाशक्ति अपनी ही संभाल रखना सिखाया गया हो मनचाहा करने की आदत	दूसरों का विचार	खुशामद करना
	ज—धृष्टता	मज़बूत क्रियाशक्ति	एकाएक दखल न देना विनय	किट् किट् किया करना
	झ—शंकाशीलता	अनुचित टीकायें	तटस्थ बरताव	अविचारी निर्णय
७ बात-बात पर बुरा लगना	क—यह समझने की आदत कि टीका की जाती है	टीकायें अयोग्यशंका	प्रोत्साहन औचित्य	निन्दा अविचारी निर्णय
	ख—यह मान लेने की आदत कि तिरस्कार किया जाता है	अहंता	दूसरों का ख़याल रखना	
			निष्कपट वार्तालाप	गम्भीर बन जाना ।
	ग—मुहर्रमीपन	अतिप्रामाणिकता	विनोद को समझना सिखाना	
	घ—ज्ञानतंतुओं की निर्बलता (Nervousness)	अयोग्य खुराक अनियमितता	अच्छी खुराक नियमितता	शिक्षा

		अपर्याप्त नींद	नींद	
		ज्ञानतन्तुओं की परम्परागत कमज़ोरी		
८ मूर्खता	क—अलम्·भान	शारीरिक हेरफेर	माता पिता को चिंता रखनी चाहिये	ज़ोर लगाकर करने जितना काम या मेहनत का काम
		अतिश्रम	काम से मुक्ति	
	ख—परस्पर विरोधी हित		नम्बर २ देखो	
	ग—ज़िम्मेदारी का अभाव		"	
	घ—महत्त्वाकांक्षा का अभाव		"	
	च—क्रियाशक्ति का अभाव		"	
	छ—बालिशता	अपरिपक्वपन	नीचे के दर्जे में उतारना	ऊपर के दर्जे में चढ़ाना
९ डेढ़ सयानापन, वाचालता, चपलता	क—मिथ्याभिमान	झूठी प्रतिष्ठा मिली हो	दूसरों की पर्वा करना सिखाना	और विरोध करना
			प्रतिष्ठा छीन लेना	क्रोध; दिल दुखाना
	ख—व्यवहार का अज्ञान	जङ्गली वातावरण में पला·पुसा हो	साश्चर्य मौन	अविवेक
			अतिशय नम्रता	
			विवेकपूर्वक अवगणना	

ग—बड़े गिने जाने की आकांक्षा	औद्धत्य की तारीफ़ की गई हो	बड़प्पन से नीचे उतार देना	प्रकट में टीका करना
घ—कुछ छिपाने की इच्छा	किसी कारणवश शर्माता हो	इस सम्बन्ध में हिम्मत बँधवाना	
च—ध्यान खींचने की आदत	घर पर उचित सार-सं-भाल न की गई हो	दिलचस्प काम दूसरों का ख़याल रखना	सताना
छ—ईर्ष्या	घर पर पर्वा न की गई हो स्वार्थवृत्ति	मैत्री दूसरों का ख़याल	दूसरों की तारीफ़
ज—समतोलता का अभाव	मिथ्या आदेश	शान्तिपूर्वक विचार स्थगित रखना आत्मनियमन	क्रोध
झ—चिढ़ाना		चिढ़ना नहीं	क्रोध

———

[स]

मूढ़बालक

[गांधीजी का एक पत्र]

बहनो, तुम चाहे जितनी कम होओ, फिर भी तुममें से किसी को जिम्मेदारी लेकर अपने मंडल को निबाहना चाहिए; प्रार्थना आदि अविच्छिन्न रखनी चाहिये। मुझे बहनों की ओर से पत्र लिखना चाहिये, नहीं तो आखिर मुझे भी थकावट मालूम होगी न? मेरे पत्र कौन रखता है, कौन सम्भालता है? आज मैं एक ऐसी शाला की बात लिखता हूँ, जो मुझे अद्‌भुत प्रतीत हुई है। एक-दो भाई और एक दो बहनें इस शाला को सम्भालते हैं। उनका यह विश्वास है कि मूढ़ से मूढ़ बालक भी प्रेम के क़ानून के वश होता ही है। इस कारण उन्होंने माँ-बापों द्वारा तजे हुए, अनाथ और मूढ़ बने हुए बालको को पढ़ाने-लिखाने का काम अपने हाथों में लिया है। उनके गुरु ने प्रेम के प्रयोगों में से कुछ नियम ढूँढ़ निकाले हैं। उन्ही नियमों के अनुसार यह शाला चलती है। इन बहनों और भाइयों ने अपना सर्वस्व इन बालकों के अर्पण कर दिया है। बालक नहीं जानते, कि वे भिखारी या अनाथ हैं, बिना माँ-बाप के हैं। उन्हें खुली हवा में, धूप में, विशाल खुली जगह में मकान बनवाकर रक्खा गया है। उन्हे ख़ासकर संगीत द्वारा सदाचारी बनाया जाता है। संगीत के साथ वे बालक कुछ शान्त चेष्टायें करते हैं, और उनमें वे तल्लीन भी हो जाते है। शिक्षिकायें बालकों को अपनी सन्तान की तरह रखती हैं, उन्हींके साथ खाती-पीतीं और उन्हे सारे समय आनन्द में, खेल-कूद में रखती हैं, और ऐसा करते करते उन्हें मूढ़ता से बचा लेती हैं। ये परोपकारी भाई बहन यह प्रयोग पिछले दो-चार वर्ष ही से कर रहे हैं। मि० होरेस् अलेक्ज़ेण्डर के मकान के पास ही (विलायत में) यह अद्‌भुत शाला है, जिसे देखकर मेरा सिर सहसा झुक गया और मैंने देखा—'प्रेम क्या नहीं कर सकता?'—'मूक होइ वाचाल, पंगु चढ़े गिरिवर गहन!'